प्रकाशक

विवेकानन्द केन्द्र, कन्याकुमारी

मूल्य १० रुपया मात्र

मुद्रक

शंकर प्रिंटिंग प्रेस,

२७१ गुड्स रोड स्ट्रीट

मदुरै–१.

प्रकाशकीय निवेदन

इस 'अंतर्राष्ट्रीय युव वर्ष' के अवसर पर 'उत्तिष्ठत जाग्रत' का यह संस्करण स्वामी विवेकानन्द की पुण्य स्मृति में अर्पित करते हुए हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है।

यह हिन्दी संस्करण गत दो-तीन वर्षों से उपलब्ध नहीं था और लोगों की उसके लिये बहुत माँग थी इसलिये विवेकानन्द केन्द्र की ओर से पहली बार इसका प्रकाशन हो रहा है। हमें विश्वास है कि इस अल्प मूल्य पुस्तक का स्वागत विवेकानन्द प्रेमी हार्दिक रूपसे करेंगे।

डा. लक्ष्मीकुमारि

अध्यक्षा विवेकानन्द केन्द्र

संकलनकर्ता की ओर से

आज से सौ वर्ष पूर्व अवतरित स्वामी विवेकानन्द की जन्म-शताब्दी मनाने के लिए सम्पूर्ण देश में बड़े उत्साह के साथ तैयारियाँ की जा रही हैं। अत: उस महान् योगी के जीवन एवं उसके उपदेशों को पुन: अध्ययन एवं मनन करने की प्रवल इच्छा भी समाज में उत्पन्न होना स्वाभाविक है। श्रीरामकृष्ण परमहंस के महान् शिष्य के रूप में, विगत छ: शताब्दियों में वे प्रथम हिन्दूधर्म-प्रचारक संन्यासी थे जो देश देशान्तरों में गये और जिन्होंने हिन्दू-राष्ट्र के सनातन-धर्म का संदेश पुन: विश्व को दिया। एक महान् देशभक्त, समाज-सुधारक और संगठक के अतिरिक्त राष्ट्रीय पुनरुत्थान की शक्तियों को संगठित एवं परिचालित करने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे और उन्होंने अंग्रेजी शासन के प्रथम आघात से विश्रृंखलित और पराभूत राष्ट्र के पुनर्निर्माण का पथ प्रशस्त किया। उन्होंने ही देश को उसके चेतना-केन्द्र—'धर्म' के प्रति जागरूक कर पुनर्जाग्रत भारत की आधार-शिला रखी और अध्यात्मिक भारत के उत्थान का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने इस वात का दृढ़ शब्दों में प्रतिपादन किया कि केवल धर्म के चारों ओर ही हिन्दू राष्ट्र को उसके लक्ष्यानुकूल दिशा में प्रभावकारी ढंग से संगठित किया जा सकता है।

पर जिस समय भारतीय जन-समाज उक्त महापुरुष के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने की तैयारी कर रहा था और शताब्दी समारोह समितियां कुछ सक्रिय हुई थीं तभी राष्ट्र को प्रबल धक्का लगा और उसने यह अनुभव किया कि उसे अपनी सम्पूर्ण शक्ति उत्तर से आये विश्वघाती और वर्बर शत्रु के संगठित आक्रमण का प्रतिकार करने में लगानी है। एक ओर तो चीन द्वारा हमारे ही छिने हुए भूभाग के वारे में समझौता एवं मैत्री-वार्ता के आवरण में की गई शत्रुता युद्ध की तैयारियाँ तथा दूसरी ओर हमारे शासकों की स्वप्निल और काल्पनिक जगत में विचरण करने की प्रवृत्ति के कारण उस समय देश पूर्णतया हक्का-वक्का रह गया, जव शत्रु ने हिमालय को लांघ कर व्यापक एवं नग्न आक्रमण किया।

आज की यह परिस्थिति स्वामी विवेकानन्दके सन्देश को एक नया महत्व प्रदान करती है। इसका कारण यह है कि उनका सन्देश शक्ति का था जिसमें शारीरिक शक्ति, मानसिक शक्ति और इच्छा-शक्ति का समावेश किया गया था। यही शक्ति आज के समय की सबसे महती आवश्यकता है। स्वामी विवेकानन्द ऐसे राष्ट्र-शरीर की रचना करना चाहते थे "जिसकी मांसपेशियां लोहे की और शिराएं इस्पात की बनी हों और उसके अन्दर वज्र के समान मस्तिष्क हो।" वे अपने देशवासियों के अन्दर शक्ति, पौरुष, क्षत्रिय-वीर्य के साथ ही ब्रह्म-तेज का आरोपण कर उसका विकास करना चाहते थे। संक्षेप में यही वे वस्तुएं हैं जिनकी इस विनाश और संकट के काल में हमें सर्वाधिक आवश्यकता है और यही वे गुण हैं जिनकी स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् विदेशों से उधार लिए गए भौतिकवादी दर्शन और ऐहिक जीवन को ही सार-सर्वस्व समझने के कारण हमारे द्वारा सतत् अवहेलना एवं उपेक्षा की गयी है।

यदि हम संक्षेप में स्वामीजी की शिक्षाओं का निरूपण करना चाहें तो हम यही कहेंगे कि उन्होंने हमें एक महान् मंत्र दिया; और वह मन्त्र यह कि ईश्वर में विश्वास करो, अपने आपमें विश्वास करो। अपने आपमें विश्वास का भाव उपनिषदों के इस महान् सत्य पर आधारित है जो उद्घोष करता है कि "मैं आत्मा हूं; मुझे तलवार काट नहीं सकती, कोई शस्त्र छेद नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती और न वायु सुखा सकता है। मैं सर्व-व्यापक हूं, मैं सर्वज्ञ हूं।" यही वह मंत्र है जिसे स्वामी विवेकानन्द अपने देशवासियों के कानों में सतत फूकते रहे। उन्होंने जो कुछ कहा अथवा उपदेश किया उसका आधार यही मंत्र था। यही समय है जब हमें इस मंत्र के आभ्यन्तरिक अर्थ को हृदयंगम कर उसका अनुसरण करना चाहिए। यदि हमने ऐसा किया तो पृथ्वी पर विद्यमान कोई शक्ति हमें पराभूत नहीं कर सकेगी।

उन्होंने इसके पश्चात् घोषणा की कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए हमें पहले अपने धर्म का पालन करना होगा। वस्तुतः धर्म के बिना मोक्ष-प्राप्ति होती भी नहीं। आज जबकि अपने अज्ञान के कारण हमें अपना धर्म भारस्वरूप प्रतीत हो रहा है इस सत्य का पुनराग्रह और भी अधिक आवश्यक हो गया है। इस प्रकार वास्तव में उन्होंने न केवल गृहस्थ के जीवन को पुनर्व्यवस्थित किया वरन् उसे एक नवीन गौरव भी प्रदान किया। उन्होंने अपने देशवासियों को उन शास्त्रों का स्मरण दिलाया जो 'वीर भोग्या वसुन्धरा' का उद्घोष करते हैं और वीर-वृत्ति को प्रगट करने का आदेश देते हैं। स्वामी जी हमें यह स्मरण रखने का निर्देश देते हैं कि शास्त्रों में हमें उन नैतिक परिस्थितियों की, जिनके अन्तर्गत हम रह रहे हैं और हमें कार्य करना है, सत्ता को स्वीकार करके चलने को कहा गया है। अपनी परिस्थितियों एवं वातावरण को इस प्रकार स्वीकार करके ही हम उनका सुधार करने एवं उन्हें ऊपर उठाने की आशा कर सकते है अतः स्वामीजी ने अपने देशवासियों से शास्त्राज्ञा को विस्मरण न करने का

आग्रह कर कहा कि परिस्थितियों के अनुरूप साम-दाम-दंड और भेद के राजनीतिक उपायों का उपयोग कर अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त करते हुए संसार का उपभोग करो तभी तुम सच्चे धार्मिक कहला सकोगे। अथवा अपमानों को सहकर तुम एक तिरस्कृत जीवन विताने को बाध्य होओगे। जब अपनी इच्छानुसार कोई भी व्यक्ति तुम्हें दुत्कारे या अपमानित करे तो तुम्हारा यह जीवन तो नरकमय हो ही जायगा, परलोक भी सुखमय नहीं हो सकेगा।

अपने इतिहास के उस कठिन काल में जबकि सम्पूर्ण राष्ट्र अपनी अमूल्य स्वाधीनता, अपनी श्रेष्ठ जीवन-प्रणाली, अपने स्वधर्म और अपने भवितव्य की रक्षार्थ शस्त्र उठाने को वाध्य हुआ है, स्वामीजी का यह संदेश हमारे निश्चय को दृढ़ एवं हमारी शिराओं को वज्र-तुल्य बनाने में बहुत अधिक सहायक होगा। उन्होंने पुनः हमें सन्देश दिया कि "भारत की राष्ट्रीय एकता देश की विभिन्न अध्यात्मिक शक्तियों के एकत्रीकरण द्वारा ही संभव है।" उनका मत था कि "भारत के राष्ट्रीय ऐक्य के लिए समान अध्यात्मिक राग से झंकृत हृदयों का मिलन अनिवार्य है।" इस संदेश का हमें विशेष रूप से मनन करना होगा, विशेषकर आज की परिस्थिति में जब कि राष्ट्रीय एकता और राष्ट्र की संपूर्ण शक्तियों का त्वरित सक्रिय होना सबसे बड़ी आवश्यकता बन गयी है।

स्वामीजी ने हिन्दू-राष्ट्र को एक और संदेश दिया। उन्होंने हमें अपने हृदयों के अज्ञान-तम को दूर करने का आह्वान किया। इसका कारण यह है कि तम अथवा अज्ञान ही शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता, रूढ़िवादिता, मानसिक क्षुद्रता, पारस्परिक कलह और हृदय दौर्बल्य जैसे दोषों को उत्पन्न करता है। इन दोषों से मुक्त होकर हम शक्ति शाली संगठन और एकता की अभेद्य चट्टान खड़ी करके अपनी पृथक्-पृथक् इच्छाओं के समन्वयीकरण द्वारा अतीत से भी श्रेष्ठ भविष्य का निर्माण करने में सफल हो सकेंगे। स्वामीजी का यह संदेश भी अत्यन्त सामयिक है। इसका कारण यह है कि जिस संकटपूर्ण स्थिति का हम सामना कर रहे हैं ऐसे समय में ही राष्ट्रों को आत्म-निरीक्षण और अतीत का पुनर्वेक्षण करने का अवसर मिलता है।

समय की इसी आवश्यकता-पूर्ति के लिए इस पुस्तक का प्रकाशन किया गया है। स्वामीजी के उपदेशों और लेखों में दर्शन, धर्म, समाज-शास्त्र और कला, संगीत एवं पुरातत्व संबंधी सामग्री भी समाविष्ट है। इस प्रकार उनके द्वारा प्रतिपादित विषय लौकिक एवं अध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों से सम्बद्ध हैं। किन्तु इस पुस्तक के प्रकाशन का सीमित उद्देश्य होने के कारण उन्हीं अंशों का संकलन किया गया है जो अपने अतीत की गौरव-गाथा से संबंधित हैं और जिनमें राष्ट्र की दुरवस्था के कारणों का विवेचन करते हुए स्वर्णिम एवं उज्ज्वल भविष्य निर्माण करने का संकेत किया गया है। अतः उनके उपदेशों और लेखों को विषय के अनुसार एकरूपता प्रदान करने के लिए नए

सिरे से क्रमवद्ध किया गया है। साथ ही सार्वकालिक और सार्वदेशिक महत्व के उन अंशों का चयन किया गया है, जिन्हें उनके मूल-भाग से पृथक् करने पर भी वे अपना अर्थ न खो बैठें।

इस पुस्तक के प्रकाशन का उद्देश्य केवल स्वामीजी के इतस्ततः विचारों का संकलन कर उनके संदेश को बिना किसी व्याख्या के उनके शब्दों में ही प्रस्तुत करना था। अतः प्रस्तुत प्रत्येक पंक्ति स्वामीजी के अपने शब्द हैं। संकलनकर्ता ने केवल सामग्री को क्रमवद्ध करते हुए विषयानुसार उनका वर्गीकरण मात्र किया है। इसी प्रकार, विषय को स्पष्ट करने के लिए कतिपय स्थलों पर सर्वनाम के स्थान पर संज्ञा का प्रयोग किया गया है। अतः पाठकों को स्पष्ट हो जाना चाहिए कि प्रत्येक अंश को उद्धरण के रूप में क्यों नहीं दिया गया। वास्तव में तो पूरी पुस्तक ही उद्धरण के रूप में है। इस पुस्तक की सामग्री के चयन के लिए 'अद्वैत आश्रम' द्वारा प्रकाशित "The Complete Works of Swami Vivekanand, Life of Swami Vivekanand" by His eastern and western disciples जैसे अधिकृत ग्रन्थों तथा पूज्य स्वामी जी के जीवन-काल से ही प्रकाशित होने वाले 'प्रबुद्ध भारत', 'ब्रह्मवादिन्' और 'उद्बोधन' के पुराने अंकों के साथ ही तत्कालीन कतिपय पत्र-पत्रिकाओं का भी आश्रय लिया गया है।

पुस्तक का वर्गीकरण सामग्री के अनुसार चार विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है; ये हैं; (१) संदेश (२) सभाषण, प्रवचन एवं लेखों से संकलित (३) चिन्तन कण एवं प्रताड़ना तथा (४) मनुष्य निर्माण अथवा कार्यकर्ताओं का गठन।

(१) **संदेश**—पुस्तक का यह भाग मुख्य रूप से पूज्य स्वामी जी के राष्ट्र-चिन्तन से सम्बन्धित है। यह एक प्रकार से स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित 'थीसिस' है और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह उनके असंख्य भाषणों, वार्तालापों पत्रों और लेखों में से संकलित किया गया है। यद्यपि यह विभिन्न स्थानों से लिए गए अंशों का एकत्रीकरण मात्र है तथापि इन्हें 'मुजायक-फर्श' के समान इस ढंग से संजोया गया है मानों यह पूज्य स्वामी जी के विचारों का स्वयंपूर्ण भाग हो।

(२) **संभाषण प्रवचन एवं लेखों से संकलितः**—इस भाग में अत्यन्त महत्वपूर्ण विषयों पर स्वामीजी द्वारा व्यक्त किए गए उन विचारों को समाहित किया गया है जो उनके 'संदेश' से सम्बन्धित तो अवश्य हैं पर जिनको प्रथम भाग में समाहित न किया जा सकता था अथवा जिनका उल्लेख मात्र उक्त भाग में किया गया है।

(३) **चिन्तन-कण एवं प्रताड़नाः**—इस अध्याय में सम्मिलित उद्धरणों का उद्देश्य पाठकों को स्वामी जी के मस्तिष्क की चिन्तनशीलता एवं हृदय की अनुभूतियों से परिचित कराना है। इन अंशों का मनन पाठकों को किसी भी समस्या के प्रति स्वामी-

जी के शान्त और सुस्पष्ट विचारों की तह में विद्यमान उनकी भावशीलता का अनुभव कराने में सहायक होगा।

(४) **मनुष्य निर्माण अथवा कार्यकर्त्ताओं का गठनः**—अपनी सभी रचनाओं अथवा उपदेशों में स्वामी जी ने राष्ट्र-निर्माण का कार्य करने के इच्छुक कार्यकर्ताओं के गठन एवं उनके मस्तिष्क और हृदय के आवश्यक गुणों का इतस्ततः उल्लेख किया है। इन सभी शिक्षाप्रद संकेतों को विभिन्न शीर्षकों, जैसे (१) संगठन (२) नेतृत्व (३) सच्चा मार्गदर्शक और (४) सफल जीवन का रहस्य अथवा कर्म कौशल के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है। स्वामीजी के संदेश के क्रियात्मक पक्ष से सम्बन्धित होने के कारण ही इन्हें यहाँ उद्धृत किया गया है।

यद्यपि कुछ निश्चित विषयों को प्रस्तुत करने के निश्चय के कारण सामग्री के चयन का क्षेत्र सीमित हो गया था, फिर भी प्रत्येक प्रस्तुत विषय पर प्रचुर मात्रा में सामग्री उपलब्ध थी। अतः स्वाभाविक रूप से संकलनकर्ता को उक्त सभी सामग्री को समाहित करने के लोभ का संवरण करने की कठिन समस्या का सामना करना पड़ा। कारण, यदि सम्पूर्ण महत्वपूर्ण सामग्री को पुस्तक में समाहित किया जाता तो स्यात् पुस्तक का मूल्य हमारे बहुत से पाठकों की क्रय-शक्ति के परे हो जाता। लेकिन संकलनकर्ता और प्रकाशक दोनों ही पुस्तक का मूल्य, जहाँ तक संभव हो, कम से कम रखना चाहते थे जिससे अधिकाधिक व्यक्ति स्वामी जी के विचारों से लाभ उठा सकें। हमें यह आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक पाठकों के अन्दर स्वामीजी के उपदेशों का विस्तृत अध्ययन करने की जिज्ञासा एवं उत्कंठा जगायेगी और उनमें से अधिकांश लोग 'अद्वैत आश्रम' द्वारा प्रकाशित 'स्वामी विवेकानन्द के सम्पूर्ण साहित्य' को पढ़ने के लिये प्रेरित होंगे।

कलकत्ता

मकर संक्रान्ति स० २०१९ — एकनाथ रानडे

१४ फरवरी १९६३

अनुवादक की ओर से:—

अनुवाद के इस द्वितीय संशोधित संस्करण में प्रथम संस्करण का लगभग कायापलट ही हो गया है। कारण? उच्च अध्यात्मिक शक्तियों एवं अलौकिक दृष्टि से सम्पन्न स्वामी विवेकानन्द की तपोपूत वाणी के यथार्थ मर्म को छू पाना इस अल्पज्ञ एवं अपरिपक्व-बुद्धि अनुवादक के बस की बात नहीं थी। इसीलिये प्रथम संस्करण में पग-पग पर त्रुटियों एवं भ्रांतियों का रह जाना नितान्त स्वाभाविक था। किन्तु मूल अंग्रेजी ग्रंथ के संकलनकर्ता, सूक्ष्मद्रष्टा एवं प्रत्येक छोटे से छोटे कार्य को निर्दोष बनाने के लिये सदैव सचेष्ट, मान्यवर श्री एकनाथ रानडे को अनुवाद कार्य की यह कमी भला क्योंकर सह्य होती? अतः, उन्होंने अपने अति व्यस्त जीवन में से एक सप्ताह का अमूल्य समय निकालकर इस अनुवाद के संशोधन हेतु दिया। जितनी एकाग्रता एवं धैर्य के साथ उन्होंने स्वामी जी के अथाह विचार-सागर में गहरे डूबकर हमें यह संकलन रूपी अनमोल मोती निकाल कर दिया, उतनी ही तन्मयता एवं धैर्य के साथ उन्होंने अनुवादक के मुख से अनुवाद के एक-एक शब्द को सुना, स्वामी जी की वाणी का सम्यक् अर्थ व भाव-मन्थन कर अनुवाद के लिये यथास्थान उपयुक्त शब्द एवं वाक्य-रचना प्रस्तुत की। वस्तुतः यदि यह संशोधित संस्करण स्वामी जी के गहन विचारों व भावों को प्रकाशित करने में थोड़ा भी समर्थ हो सका है तो इसका सम्पूर्ण श्रेय माननीय एकनाथजी के अध्यवसाय एवं मर्मभेदी दृष्टि को है। अनुवादक का योगदान इसमें लिपिक से अधिक कुछ नहीं है। फिर भी, जहां कहीं त्रुटियां दिखायी दें, उन्हें अनुवादक के प्रमाद, आलस्य एवं असावधानी का ही कुपरिणाम मानना चाहिये।

—देवेन्द्रस्वरूप अग्रवाल

—:o:—

अनुक्रम

भाग—३

स्फुट विचार एवं प्रताड़ना

स्फुट विचार

प्रताड़ना

भाग—४

मनुष्य निर्माण अथवा कार्यकर्त्ताओं का गठन

—:०:—



गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस



स्वामी विवेकानन्द

एक शुभ प्रभात..........

अमूल्य रत्नों से परिपूर्ण जाज्वल्यमान भारत वसुन्धरा का अन्चल कितना पवित्र, कितना सौभाग्यशाली और कितना अनोखा है यह किसी से छिपा नहीं है। यह रत्नगर्भा भरत भूमि अपने अन्तर में जहाँ असंख्य मणि-मुक्तायें छिपाये बैठी है वहीं उसके अन्चल में समय-समय पर ऐसे नररत्न भी पैदा हुए हैं जिनकी जीवन ज्योति से जगतीतल जगमगा उठा। जिन्होंने चट्टान बनकर समय का प्रवाह रोक दिया। जो अपने लिए नहीं विश्व के लिए जीये। जीव मात्र की ममता समेटे जो जीवन को तिल-तिल जलाकर प्रकाश देते रहे। भूले भटके विपथगामी पथिकों में आशा का संचार कर, उन्हें साहस के साथ उनकी मंजिल तक ले गये। जिनके पवित्र तेज के समक्ष समस्त अमानवीय एवं अपावन विचारों ने घुटने टेक दिये। माँ भारती के ये अमर पुत्र अपने पूर्वजों की थाती संभाल, अतीत का ज्योति कलश ले साधना के पथ पर बढ़े तो पथ की बीहड़ता, उसका अन्धकार सब कुछ स्वयमेव नष्ट हो गया। मंजिल आरती लिये स्वागत में खड़ी मिली। उनका जीवन आज भी सफलता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर वह ज्ञानज्योति बिखेर रहा है जिसके प्रकाश पर संसार सब कुछ न्योछावर करने को सन्नद्ध हैं। ऐसे विलक्षण पुरुष भारत में एक दो नहीं हुये हैं। इनकी एक विशाल मालिका है। इसी दिव्य मालिका के एक ज्योतिर्मान रत्न हैं वामी विवेकानन्द।

१२ जनवरी सन् १८६३ ई० की पौष संक्रान्ति। जब प्रकृति में संक्रान्ति हो रही थी, भगवान् भास्कर अपनी राह बदल रहे थे, इसी वेला में कलकत्ते के सिमुलिया पल्ली में, पिता विश्वनाथदत्त के घर में, सूर्योदय के कुछ क्षण पूर्व ६ बजकर ४६ मिनट पर एक शिशु जन्मा। दत्त गृह आनन्द से भर गया। मंगल वाद्य बज उठे। पवित्र मातृभूमि ने उस दिन नव ऊषा ने उस नवजात शिशु का स्वागत किया। क्योंकि प्रकृति के साथ ही वह भी अपने जीवन में उत्क्रान्ति चाहती थी। सूर्यदेव के साथ वह भी अपनी राह बदलने को उत्सुक थी। इस कार्य के सम्पादन के लिए उसे चाहिये था एक ऐसा साहसी, सबल एवं तेजस्वी व्यक्तित्व, जो सबको सचेत कर सके सोनेवालों को झकझोर कर जगा सके। मृतप्राय पड़े भरत पुत्रों को, ऋषियों की

सन्तानों को जीवन दान दे सके। उस दिन जब ऐसे ही व्यक्तित्व का धनी माता की गोद में उसकी उतरा तो फिर स्वागत वह कैसे न करती ?

शिशु वाराणसी के वीरेश्वर महादेव की आराधना के प्रसाद रूप में जन्मा था। अतः उसका नाम रक्खा गया 'वीरेश्वर'। माता उसे प्रेम से पुकारती 'बिले' और पिता ने कहा मेरे पुत्र का नाम होगा—'नरेन्द्रनाथ' ! लेकिन शायद उन्हें यह पता नहीं था कि यह नाम भी अतीत की धुंधली स्मृतिमात्र बनकर रह जायगा और विश्व नरेन्द्र को विवेकानन्द के रूप में जानेगा, उसी रूप में उसकी वन्दना करेगा। आध्यात्मिक साधना, अपूर्व चारित्र्य, प्रखर स्वदेश प्रेम, दीनों दुखियों और दलितों की ममता से परिपूर्ण तेज वीर्य, ज्ञान से विभूषित भारत ही नहीं अपितु विश्व मानवता का त्राता बन जायगा।

बचपन

नरेन्द्रनाथ बचपन से ही बड़े मेधावी थे। उनकी विलक्षणता बाल्यकाल से ही स्पष्ट दिखाई देने लगी थी। कहते हैं कि एक वृद्ध पड़ोसी से रात में सोते समय सुन-सुनकर 'मुक्तबोध' व्याकरण के सभी सूत्र उन्होंने कंठस्थ कर लिये थे। 'माँ भुवनेश्वरी' से रामायण और महाभारत का पाठ सुनकर उसके अनेक अंश उनकी जिह्वा पर आ गये थे। बचपन से ही नरेन्द्रनाथ मेधावी, निर्भीक, रहस्यप्रिय, श्रुति एवं स्मृतिधर थे। जिसे वे एक बार सुनते या पढ़ते वह सदा के लिये उनके स्मृति पटल पर अंकित हो जाता। रामभक्त महावीर हनुमान जी नरेन्द्रनाथ के जीवनादर्श थे। यही कारण है कि बड़े होने पर साहस, बल, वीर्य एवं पवित्रता की मूर्ति हनुमान जी की पूजा उन्होंने निद्रित भारत में घर-घर प्रचलित करनी चाही।

बाल्यकाल से ही वे जिद्दी स्वभाव के थे। जिसे एक बार पकड़ते फिर कोई भी बाधा उसे छुड़ा न पाती। ताड़ना, धमकी, भय एवं लोभ सभी व्यर्थ जाते। वे उन्हें डिगा न पाते। माँ भुवनेश्वरी कभी-कभी अपने अशान्त पुत्र को गोदी में लिये कहा करती—"मैंने बहुत मनौती करके, शिव के मन्दिर में धरना देकर एक पुत्र की कामना की थी, परन्तु उन्होंने भेज दिया एक भूत।" नरेन्द्रनाथ की देखभाल करने के लिए दो नौकरानियां दिन रात उसके पीछे फिरा करती थीं। जब कभी उन्हें क्रोध आ जाता तो फिर हिताहित का विस्मरण करके कुछ भी कर बैठते। घरके सारे सामान तोड़-फोड़ कर नष्ट कर डालते।

ध्यान धारणा एवं पूजन वंदन इनका बचपन का ही सहज संस्कार था। अनेक बार ध्यानमग्न हो बैठ जाते तो अपनी सुध-बुध खोकर बाह्य-जगत से इतनी दूर चले जाते कि दुनिया का उन्हें कुछ ज्ञान ही न रहता। रामकृष्णदेव ने भी दक्षिणेश्वर में एक बार उनका उल्लेख करते हुए कहा था कि "नरेन्द्र ध्यान-सिद्ध पुरुष है। जिस

दिन वह जान सकेगा कि वह कौन है, उस दिन इस संसार में नहीं रहेगा। दृढ़ संकल्प के द्वारा योग मार्ग से शरीर छोड़कर चला जायगा।"

बड़े होने पर 'नरेन्द्र' विद्याध्ययन के लिये पाठशाला गये। पर वहां के वातावरण में व्यवहार और विद्या सीखना तो दूर रहा उल्टे गाली और अश्लील शब्द सीखकर लौटते। फलतः पिता विश्वनाथदत्त ने उनका विद्यालय जाना बन्द करा दिया। अब घर पर ही शिक्षक से वे शिक्षा ग्रहण करने लगे। कुछ दिन बाद जब वे पुनः विद्यालय भेजे गये तो वे अंग्रेजी पढ़ने को राजी न हुये। वे बोले—"यह विदेशी भाषा है। इसकी अपेक्षा अपनी भाषा सीखना अधिक श्रेयकर है।" कई मास संघर्ष करते रहे। अन्त में अंग्रेजी पढ़ना स्वीकार कर लिया। और उसका प्रारम्भ उन्होंने अपनी माता से ही अँग्रेजी वर्णमाला सीखकर किया। वे जब तक किसी वस्तु का प्रत्यक्ष प्रमाण न पाते उस पर विश्वास न करते। इसी कारण जब उन्हें कोई हौव्वा, भूत, राक्षस आदि का भय दिखाने की कोशिश करता तो वे हँसकर उड़ा देते।

'मैं बचपन में बहुत उद्दण्ड था'

विद्यालय का काम करने अथवा अपना पाठ याद करने में उन्हें देरी न लगती। समय इतना बच रहता कि कभी-कभी उसके उपयोग की समस्या आ खड़ी होती। ऐसी स्थिति में वे मुहल्ले के लड़कों को साथ लेकर संगीत, थियेटर, व्यायामशाला, कुश्ती और न जाने क्या-क्या काम किया करते। अपनी अपरिमित शक्ति के उपयोग की जैसे उन्हें कहीं जगह ही न मिलती हो। गुल्ली-डंडा, दौड़-धूप, मार-पीट, घूंसेबाजी, लाठी का खेल, तैराकी आदि उनके नित्य के काम थे। इन सब में वे दलपति का काम करते। उनके बचपन की उद्दण्डता तथा साहस की अनेक घटनायें हैं। जब वे अमेरिका से विश्व विजयी होकर आये तो कभी-कभी शिष्यों से विनोद में कहा करते—"मैं बचपन में बहुत उद्दण्ड था। अगर ऐसा न होता तो क्या इसी तरह मैं सारी दुनियाँ घूम आ सकता था ?'

उनके अन्दर एक ऐसा विराट् पुरुष निवास करता था जिसके प्रकाश से नरेन्द्रनाथ का जीवन बचपन से ही ज्योतिपुंज के रूप में दिखने लगा। उसी शक्ति का प्रकाश समय-समय पर अनेक रूपों में प्रगट हुआ था। इसी कारण नरेन्द्र में विपुल आध्यात्मिक शक्ति, दया, साम्य, मैत्री, आत्मविश्वास, तेज, धैर्य, स्थैर्य, वीर्य, बल, इहलौकिक एवं पारलौकिक ज्ञान, इससे भी ऊपर अप्रतिद्वन्द्वी नेतृत्व के भाव स्वयमेव विसिकत हुये थे। आगे चलकर जिस गरिमा एवं प्रगलभता का परिचय उन्होंने दिया, वह सब उनके बाल्यकाल से ही स्पष्ट दिखाई देता था। बचपन की छोटी-बड़ी सैंकड़ों घटनाओं की समष्टिरूप थे स्वामी विवेकानन्द। दीन-दुःखियों को देखते ही उनका हृदय द्रवित हो जाता। उनके पास कुछ देने लायक न रहता तो अपनी धोती कुरता भी दे

देते। किसी के जीवन में पैठकर उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना उनके बाल्यकाल का ही स्वभाव था।

पाठ्य पुस्तकों की छोटी सी सीमा नरेन्द्र को सन्तुष्ट न कर पाती। परीक्षा उत्तीर्ण करना उनके लिये तुच्छ बात थी। उसके लिये उन्हें श्रम नहीं करना पड़ता था। यही कारण है कि प्रवेशिका की परीक्षा के पूर्व उन्होंने भारतीय इतिहास के साथ ही साथ अनेक साहित्यिक विषयों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। बलिष्ठ शरीर के अन्दर से झांकता हुआ स्वस्थ मस्तिष्क, विविध शास्त्रों, दर्शन, वस्त्र, संगीत, नृत्य आदि के रूप में साक्षात् दिखाई पड़ जाता। गम्भीर अध्ययन सौशील्य, ध्यान-परायणता, एवं सर्वजनप्रियता तो उनका जन्मजातगुण था। विद्यार्थी जीवन से ही वे एक प्रभावी वक्ता के रूप में सबके सामने आ चुके थे।

अब 'नरेन्द्र' प्रवेशिका की परीक्षा उत्तीर्ण कर कालेज में भर्ती हो गये। इस समय उनके विचार-जगत में एक महान् आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। वे भारत की सीमा-रेखा के पार विराट् विश्व की ओर चले। नित्य नवीन विचार एवं नवीन संस्थायें उन पर अपना प्रभाव डालने लगीं। पाश्चात्य दार्शनिकों एवं साहित्यिकों की कृतियाँ उनके अध्ययन का विषय बन गयीं। वर्ड्सवर्थ के काव्य ने उन पर गहरा प्रभाव डाला। डेकार्टे, ह्यूम, बेन, डार्विन एवं स्पेन्सर के साहित्य ने उनके चित्त में विप्लव मचा दिया; ऐसा भयंकर झंझावात कि कई बार वे परेशान हो जाते।

पाश्चात्य दर्शन ने यद्यपि उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया था पर प्राच्य और पाश्चात्य दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन के बाद उन्होंने कहा—"हिन्दू दर्शन, प्रागैतिहासिक युग से जिस परम सत्य की उपलब्धि करके, जिस स्थिर सिद्धान्त पर पहुंचा है पाश्चात्य दार्शनिक उसका क्षीण सा आभास मात्र पा सके हैं—पूर्ण सत्य की उपलब्धि वे नहीं कर सके।" वे बैठे बैठे यही सोचा करते कि इस विशाल सृष्टि के सुनियोजित परिचालन के पीछे कोई शक्ति है या नहीं ? मानव जीवन का उद्देश्य क्या है ? संसार में इतना दुःख और ये विषमतायें क्यों हैं ? धनी के महल के पास ही गरीब की जीर्ण झोपड़ी क्यों है ? व्यक्तिगत सामाजिक और राष्ट्रीय विषमताओं ने उनके मन को विद्रोही बना दिया।

नरेन्द्रनाथ का अन्तर धर्म-भाव से परिपूर्ण था। धर्म से लाभ की इच्छा से ही वे ब्रह्म समाज में आने जाने लगे। धीरे-धीरे समाज की उपासना-पद्धति के अनुसार उन्होंने निराकार ब्रह्म की उपासना प्रारम्भ की। ब्रह्मसमाजियों का अनुकरण कर हिन्दू धर्म की निन्दा भी करने लगे। जाति भेद की समालोचना, स्त्री-शिक्षा, और स्त्री-स्वाधीनता की आवश्यकता का वे बड़े जोरों से प्रचार करने लगे।

बता दे कोई......

धर्म का मूल उद्देश्य है—'ईश्वर-प्राप्ति।' फलतः नरेन्द्र ईश्वर की खोज में

व्याकुल हो उठे। अनेक धार्मिक महन्तों एवं सन्तों की शरण में गये पर समाधान न हुआ। इसी खोज-बीन में वे एक दिन पहुंचे महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के पास। नरेन्द्र ने उन्मत्त की भांति महर्षि से पूछा—"महाशय ! क्या आपने ईश्वर का दर्शन किया है ?" पर महर्षि समुचित उत्तर न दे सके। वे कुछ क्षण तो आश्चर्यमिश्रित भाव से देखते रहे। फिर बोले—"तुम्हारे नेत्र योगियों जैसे हैं।" नरेन्द्र की आशा निराशा में बदल गई। हताश होकर वे लौट पड़े। व्याकुलता बढ़ती ही गई। वे कभी-कभी बड़बड़ा उठते—'ऐसे तत्वदर्शी महापुरुष कहाँ मिलेंगे जो ब्रह्म का दर्शन करा सकें।'

धीरे-धीरे ब्रह्मसमाज के बनावटीपन से उनका मन ऊब गया। वे जिस सत्य की उपलब्धि चाहते थे, जिस अवस्था में स्थित होने की चेष्टा कर रहे थे—उसका उन्होंने ब्रह्मसमाज में सर्वथा अभाव पाया। ध्यान और अध्ययन के बाद भी अन्तर न जाने किस अज्ञात वेदना से पीड़ित हो उठता। वे कहाँ जायँ ? क्या करें ? जिससे ईश्वर की प्राप्ति हो सके—यह बताने वाला कोई न मिलता।

इसी ऊहापोह व भयंकर अन्तर्वेदना के क्षणों में ईश्वरेच्छा से परमहंस रामकृष्ण-देव से उनका मिलन हुआ। रामकृष्ण देव एवं नरेन्द्र का यह मिलन, नर का नारायण से, प्राचीन का नवीन से, सागर का नदी से, स्वर्ग का मर्त्य से तथा विश्व का भारत के साथ मिलन था।

ये विषमताएं क्यों !

यह नरेन्द्र की आयु का १८ वां वर्ष था। वे बी. ए. की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे। अब तक वे विश्व के अनेक वादों एवं दर्शनों का भारतीय दर्शन के साथ तुलनात्मक अध्ययन कर चुके थे। अतिस्नेह से घर में लालित पालित युवक दीन-दु:खियों को देखते ही रो देता। उसका अन्तर बार-बार यही प्रश्न करता—संसार में इतनी विषमता क्यों ? सभी एक ही परम पिता की सन्तान हैं फिर भी ब्राह्मण एवं चाण्डाल के भीतर ऐसे दुर्बल अन्तराल की सृष्टि कैसे हुई ? ओस से धोये ताजे फूल के समान उनके निष्कलुश जीवन पट पर ये विषमताएं अपना प्रभाव छोड़े बिना न रहीं।

सप्तर्षि मण्डल का महर्षि

नरेन्द्रनाथ के दक्षिणेश्वर आने से पहिले ही श्री रामकृष्ण देव नरेन्द्र के स्वरूप के सम्बन्ध में जान चुके थे। वे उनसे मिलने को व्याकुल थे। कभी-कभी 'नरेन्द्र नरेन्द्र' कहकर चीख उठते थे। एक दिन कलकत्ते में सुरेन्द्रनाथ मित्र के निवास-स्थान पर नरेन्द्रनाथ जब भजन गाने के लिये आये तो श्री रामकृष्णदेव उन्हें देखते ही चौंक पड़े "अरे ! यही तो सप्तर्षि मण्डल का महर्षि है।" उनके इस अतीन्द्रिय दर्शन ने

बता दिया उस अपरिचित युवक का सही परिचय। वे विह्वल हो गये। वे तो अब तक उनकी ही प्रतीक्षा कर रहे थे। नरेन्द्र ने भजन गाये तो परमहंस की भाव-समाधि लग गई। कार्य-क्रम समाप्त होते ही बाहर लाकर नरेन्द्र को ध्यानपूर्वक देखते हुये उन्होंने दक्षिणेश्वर आने का निमंत्रण दिया। जिसे नरेन्द्र अस्वीकार न कर सके।

'मैं विवाह नहीं करूंगा'

इस घटना के बाद नरेन्द्र ने अपनी एम० ए० की परीक्षा समाप्त की। कालेज की परीक्षा के बाद घर आते ही पिता जी ने एक कड़ी परीक्षा ली। उन्होंने एक धनी पिता की पुत्री के साथ नरेन्द्र का विवाह निश्चित कर दिया। नरेन्द्र के सामने प्रस्ताव आया तो वे विद्रोह कर बैठे—उनका एक ही उत्तर था—"मैं विवाह नहीं करूंगा।" उनका वैराग्य-प्रवर मन प्रतिक्रिया से भर गया। वे और अधिक ध्यान और भजन में डूब गये। उनकी यह दशा देखकर एक दिन डा० रामचन्द्र दत्त ने कहा—'भाई यदि तुम यथार्थ में धर्म-लाभ करना चाहते हो तो ब्रह्मसमाज आदि स्थान छोड़कर दक्षिणेश्वर में परमहंस रामकृष्ण देव के पास जाओ।" उनकी बात नरेन्द्र को अच्छी लगी। दो-तीन मित्रों के साथ नरेन्द्रनाथ दक्षिणेश्वर पहुंचे।

१८८१ ई० का दिसम्बर मास था। नरेन्द्रनाथ ने साथियों के साथ जैसे ही कमरे में प्रवेश किया, ठाकुर प्रसन्नता से नाच उठे। फर्श पर पड़ी चटाई पर नरेन्द्र को बैठाया। परमहंस देव ने भजन गाने का अनुरोध किया। फिर क्या था—मधुर स्वर की झंकार से आश्रम का कोना-कोना पुलकित हो उठा। श्री रामकृष्ण देव अपने को सँभाल न सके। 'अहा ! अहा !!' कहते हुये वे समाधि में लीन हो गये।

तत्पश्चात् एक अप्रत्याशित घटना घट गई। वे नरेन्द्र का हाथ पकड़ कमरे के बाहर बरामदे में ले गये एवं आनन्दाश्रु बहाते हुए बोले—"इतने दिनों के बाद आये ? मैं तुम्हारे लिये व्याकुल प्रतीक्षा में बैठा था—तुमने यह एक बार भी नहीं सोचा ?' दूसरे ही क्षण रोते हुये हाथ जोड़कर बोले—"मैं जानता हूँ प्रभु, तुम वही सनातन ऋषि, नर रूपी नारायण हो, जीवों का दुःख दूर करने के लिये पुनः पैदा हुए हो।"

दोनों कमरे में लौट कर वापस आये। धर्म-चर्चा अपने स्वाभाविक रूप से चलने लगी। नरेन्द्रनाथ इस रहस्यमय व्यक्ति को विस्मय से देखते रहे। उन्हें पता चला कि वे जो कुछ कह रहे थे वह पुस्तक की कोई रटी रटाई बात नहीं थी। बात-चीत के क्रम में—'भगवान को देखा जा सकता है कि नहीं ?'—इस प्रसंग में ठाकुर बोले—"क्यों नहीं ? उन्हें वैसे ही देखा जा सकता है, जैसे तुम्हें देख रहा हूँ। तुम्हारे साथ बातें कर रहा हूँ ठीक वैसे ही बल्कि और निकटतम भाव से ईश्वर को देखा जा सकता है, उनसे बातें की जा सकती हैं। वैसा कौन करना चाहता है ? लोग पत्नी-

पुत्रों के शोक में घड़ों आँसू बहाते हैं, विषय और रुपये पैसे के लिए रोते हैं, परन्तु भगवान की प्राप्ति नहीं हुई, यह कह कर कौन रोता है ? 'उनका दर्शन नहीं किया,' यह कह कर यदि कोई रोते हुए उन्हें पुकारे, तो वे अवश्य दर्शन देते हैं।" नरेन्द्र नाथ इन बातों से प्रभावित हुये बिना न रहे। वे चुपचाप सोचने लगे—'उन्माद होने पर भी ईश्वर के लिये इतना त्याग संसार में बहुत कम लोग कर सकते हैं। यह उन्मादी व्यक्ति महान, पवित्र एवं त्यागी है। इन्होंने ईश्वर के दर्शन किये हैं अतः ये हर मानव के लिये पूजनीय है।"

स्पर्श मात्र से……

इन्हीं सब विचारों की ऊहापोह में नरेन्द्र कलकत्ते वापस आ गये। इधर नरेन्द्र ठाकुर के सम्बन्ध में जितना सोचते उतना ही अधिक उधर खिचते जाते, विस्मय में उलझते जाते और उधर ठाकुर का चित्त उन्हें पुनः देखने के लिये व्याकुल हो उठता। नरेन्द्रनाथ पढ़ाई में भरसक मन लगाने की कोशिश करते पर लग न पाता। अत्यन्त व्याकुल होकर एक दिन अकेले ही दक्षिणेश्वर की ओर चल पड़े। उन्हें देखते ही ठाकुर आनन्द-विभोर हो उछल पड़े—"अरे तू आ गया ?" और उनका हाथ पकड़कर अपने पास बिठा लिया। पुलकित हो उन्हें देखते रहे। फिर धीरे-धीरे उनके पास सरक आये। भावातिरेक में ठाकुर ने नरेन्द्र को छू दिया। फिर क्या था, वे संज्ञा-शून्य से किसी और लोक में पहुंच गये। थोड़ी देर पश्चात् जब चेतना लौटी तो चिल्ला उठे—'अरे, तुमने यह मेरी कैसी हालत कर डाली, मेरे तो मां-बाप हैं।'

ठाकुर हंस पड़े। नरेन्द्र की पीठ सहलाते हुये बोले—"तो तुम अभी यहीं तक रहे। एक ही बार में नहीं होगा, कल पुनः होगा।"

अब ठाकुर बदल चुके थे। उन्हें नरेन्द्रनाथ से प्यार करने. खिलाने पिलाने में विशेष सुख का अनुभव हो रहा था। उन्हें किसी भी प्रकार तृप्ति नहीं हो रही थी। इधर संध्या हो गई तो नरेन्द्र बिदा लेने गये। ठाकुर आग्रहपूर्वक बोले—'बोलो, फिर शीघ्र ही आओगे न।' 'हां' कहकर नरेन्द्र ने किसी प्रकार बिदा ली।

कितना अद्भुत आकर्षण था ठाकुर में ! नरेन्द्र के दिन बीतते तो रात काटे न कटती। किसी प्रकार एक सप्ताह बिताकर के पुनः दक्षिणेश्वर पहुंचे। उस दिन ठाकुर उन्हें लेकर बगीचे में घूमने चले गये। वे पास-पास बैठे थे। नरेन्द्र उस दिन काफी सतर्क थे। फिर भी ठाकुर के स्पर्श करते ही नरेन्द्र अपने को सँभाल न पाये। बाहरी ज्ञान एकदम लुप्त हो गया। चेतना लौटी तो देखा रामकृष्ण देव मुस्कराते हुए उनकी पीठ पर हाथ फेर रहे थे और नरेन्द्र असहाय से पड़े उन्हें एकटक देख रहे थे। उस दिन की अचेतावस्था में ठाकुर ने नरेन्द्र से अनेक प्रश्न किये जिसका उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया था। परमहंस देव को अपनी कल्पना के अनुरूप ही उनमें बिपुल तेज

दिखाई दिया। इसके बाद लगभग पांच वर्ष तक नरेन्द्र, स्वामी जी के सान्निध्य में रहे। इस बीच उनके जीवन में आमूल परिवर्तन हो गया। फिर भी मूर्ति-पूजा पर उनका विश्वास नहीं जमा। कभी-कभी ठाकुर की हंसी उड़ाते हुये कहते—"आप ईश्वरीय रूप आदि जो कुछ देखते हैं वे सब दिमागी ख्याल हैं।" फिर भी परमहंस कभी क्षुब्ध न हुये। अपने अध्यात्मिक बल से उन्होंने नरेन्द्र को वशीभूत कर लिया। अन्त में श्री रामकृष्ण देव को उन्होंने इष्ट गुरु और अवतार रूप में मान लिया। दिव्य दृष्टि-सम्पन्न स्वामी यह जानते थे कि नरेन्द्र कौन है; और वह क्यों आया है? वे यह भी जानते थे कि नरेन्द्र के द्वारा युग-धर्म का प्रचार कार्य सम्पन्न कराया जा सकता है।

कठिन परीक्षा......

नरेन्द्र अब अपनी मंजिल पर बहुत आगे बढ़ चुके थे। परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही अब उनका जीवनोद्देश्य बन चुका था। रात-रात भर व्याकुल हृदय से जगते रहते और उसी ध्यान-धारणा में ही बिता देते। इस समय तक बी० ए० पास करके नरेन्द्र ने बी०एल० की शिक्षा ग्रहण करना प्रारम्भ किया। ऐसे ही समय सन् १८८४ के प्रारम्भ में उनके पूज्य पिता का आश्रय सदा-सदा के लिये समाप्त हो गया। नरेन्द्र-नाथ के पारिवारिक जीवन में एक महान संकट उत्पन्न हो गया। मां, बहिन और भाई आदि छः-सात व्यक्तियों के अन्न-वस्त्र का प्रश्न आ खड़ा हुआ। एक-एक करके सभी लेनदार आने लगे। नरेन्द्रनाथ नंगे पांव, फटा कुरता पहिने नौकरी की तलाश में इधर-उधर घूमने लगे। कितना कष्ट था उस युगावतार को, इसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है। सवेरे उठते ही स्नान-ध्यान कर 'निमंत्रण है' कह कर निकल जाते और दिन भर नौकरी की तलाश में बिना खाये-पिये घूमते रहते, शाम को घर वापस आ जाते। पर इस गरीबी में भी प्रलोभन उन्हें डिगा न पाते, किसी के सम्पत्ति की मरीचिका उन्हें छल न पाई। वे इस संघर्ष में भी विजयी होकर निकले।

भूख-प्यास की ज्वाला में जलते परिवार की व्यथा वे आखिर कब तक सहते? एक दिन मां से न रहा गया। वे क्रुद्ध हो गईं। बोलीं—"चुप रह लड़के! बचपन से ही 'भगवान-भगवान' कहता है। क्या कुछ किया तुम्हारे भगवान ने, देख लिया।" यह बात तीर की तरह चुभ गई। दुर्भाग्य के कठोर आघात ने माँ की ईश्वर-भक्ति को विचलित कर दिया। स्मरण रहे, दुःखों के इन्हीं वात्याचक्रों ने ही भावी के स्वामी विवेकानन्द को जन्म दिया था। बहुत घूमने फिरने के बाद एटार्नी कार्यालय में एक अस्थायी नौकरी मिल गई। अब थोड़ा बहुत धन मिलने लगा था पर उतने से परि-वार का दुःख दूर न हो सका। यंत्रणा के इन्हीं क्षणों में उनके मन में यह विचार उठा कि 'ठाकुर की प्रार्थना भगवान मानते हैं। यदि वे मेरे लिये ईश्वर से प्रार्थना करें तो

कोई हल निकल सकता है । ठाकुर मेरी कोई बात टाल नहीं सकते ।' इसी विचार से वे एक दिन दक्षिणेश्वर पहुंचे । पहुंचते ही बोले—'आपको मेरी कोई न कोई व्यवस्था करनी ही होगी । यदि आप अपनी 'मां' से कहें तो वे मेरे सारे कष्टों का निवारण कर सकती हैं ।" ठाकुर मन्द स्वर में बोले—अरे मैं 'मां' से यह सब नहीं मांगता । तू ही जाकर क्यों नहीं मांग लेता ? तू 'मां' को नहीं मानता इसीलिये तो यह सब कष्ट भोगने पड़ रहे हैं !" थोड़ी देर चुप रहने के बाद पुनः बोले—जा आज रात को तू मां से जो कुछ मांगेगा वह तुझे देगी ।" नरेन्द्र आश्वस्त हुए । रात को वे काली मन्दिर में गये । मां काली की चैतन्य मूर्ति देखकर आत्मविभोर हो गये । सांसारिक माया का बन्धन कट गया । वे सारा दुःख भूल गये ।

उन्हें माँ, बहिनों और भाइयों के कष्टों का ध्यान ही न रहा । वे नत-मस्तक होकर बोले—'मां, मुझे विवेक दो, वैराग्य दो, ज्ञान और भक्ति दो, अपना साक्षात्कार होने दो ।'ठाकुर के पास आये तो पूछने पर बताया कि 'मैं तो सब कुछ भूल गया । मां से मैं अपने दुःख कष्ट की तुच्छ बात क्या कहूं ।" पर ठाकुर के कहने से वे दो बार पुनः गये लेकिन एक बार भी वे अपनी बात न कह सके । पर बाहर आने के बाद वे माँ-बहिनों का कष्ट भूल न पाये । ठाकुर से बोले—'ये सब आप के ही काम हैं । आप ने मेरा मन पलट दिया । अब आपको ही मेरे परिवार का कोई न कोई प्रबन्ध करना होगा । अब तो मैं आपकी शरण न छोड़ूंगा । अनेक अनुनय-विनय के बाद स्वामी जी बोले—अच्छा जा ! 'मां से कहूंगा जिससे तेरे अन्न-वस्त्र का अभाव कभी न हो ।' नरेन्द्र अब निश्चिन्त थे । मां काली की महिमा उनकी समझ में आ गई थी ।

गुरुदेव का निर्वाण

धीरे-धीरे नरेन्द्र का वैराग्य बढ़ता गया । ठाकुर का सामीप्य उन्हें आनन्द देने लगा । लेकिन परमेश्वर को कुछ और ही मन्जूर था । रामकृष्ण देव कण्ठ-रोग से आक्रान्त हो गये । ठाकुर अब शरीर-त्याग के लिये तैयार हो रहे थे । अतः नरेन्द्र को सर्वदा अपने साथ रखते थे । एक दिन एक कागज पर लिखकर कहा—'नरेन्द्र लोक शिक्षा देगा ।' देह-त्याग के तीन-चार दिन पूर्व एक दिन संध्या समय श्री ठाकुर ने नरेन्द्र को बुलाया । दरवाजा बन्द कर दिया । नरेन्द्र की आँखों में एकटक देखते हुए समाधि में डूब गये । उसी समय उनके शरीर से एक ज्योतिपुन्ज निकला जो नरेन्द्र के शरीर में समा गया । फिर क्या था वे भी ध्यानस्थ हो गये । चेतना का भाव आने पर देखा—रामकृष्ण देव आनन्द-विह्वल अश्रु धारा बहा रहे थे । ठाकुर गद्‌गद् स्वर में बोले—"आज मैं सर्वस्व तुझे देकर फकीर बन गया । तू इस शक्तिबल पर संसार में अनेक कार्य कर कर सकेगा । काम समाप्त होते ही लौट जायगा । यह सुनकर नरेन्द्रनाथ बिलख पड़े । १६ अगस्त १८८६ ई० को १० बजकर ६ मिनट पर रात्रि

की महानिशा में तीन बार 'काली' नाम का उच्चारण कर श्री रामकृष्णदेव महा-समाधि में लीन हो गये।

श्री रामकृष्ण देव की मृत्यु के पश्चात् नरेन्द्रनाथ आदि सोलह युवक भक्तों को कहीं रहने का ठिकाना न रहा। सात दिन बाद ही काशीपुर उद्यान भवन के किराये की अवधि समाप्त होते ही कुछ लोग घर लौट गये और कुछ देशाटन पर चले गये। नरेन्द्रनाथ व्याकुल हो उठे। ठाकुर महासमाधि के पूर्व उन्हीं पर युवक-भक्तों का भार सौंप गये थे। पर वे तो स्वयं अकिंचन संन्यासी थे। फिर भी एक दूसरा मकान लेकर उन्होंने सबको इकट्ठा करके साधना प्रारम्भ कर दी। इसी समय श्री सुरेन्द्रनाथ मित्र सहायता के लिए आ पहुँचे। आश्रम के खर्च का कुछ भार उठाना उन्होंने स्वीकार कर लिया। कुछ दिनों बाद कलकत्ते के उत्तर में बाराह नगर में एक भुतहा मकान किराये पर लिया गया। वहाँ कुछ त्यागी भक्त निवास करने लगे। सभी के हृदय में उस समय तीव्र वैराग्य था। सबने मिलकर बाराह नगर मठ की स्थापना की। १८८७ ई० में नरेन्द्रनाथ आदि भक्तों ने संन्यास ग्रहण कर लिया। तपस्या और देशाटन का जीवन चला। कभी-कभी तो भूखा ही रह जाना पड़ता और कभी-कभी केवल नमक-भात खाकर गुजारा करना पड़ता।

सर्वप्रथम स्वामी जी थोड़े दिनों के लिये मठ छोड़कर वैद्यनाथ एवं सिमुलिया आदि स्थानों में भ्रमण करके बाराह नगर लौट आये। सन् १८८८ ई० में वे सहसा निकल पड़े और वाराणसी से लेकर ऋषीकेश तक के सभी प्रमुख स्थानों का भ्रमण किया। करतल भिक्षा तरु-तल वास ? पैदल चलते थे। फलतः स्वास्थ्य बिगड़ गया और वे बाराह नगर लौट आये। दो वर्ष तक बाराह नगर मठ में रहने के पश्चात् स्वामी जी १८९० ई० में अपने गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द जी के साथ हिमालय यात्रा पर चल दिये। जिस-जिस से वे मिले वही मुग्ध हो गया। वे अब केवल केश मुण्डित, फटे वस्त्रों में घूमनेवाले संन्यासी मात्र नहीं थे बल्कि भस्माच्छादित वह्नि, के समान अपने आनन से प्रगट होने वाली प्रतिभा छिपा पाने में वे असमर्थ थे। अल्मोड़ा और नैनीताल के रास्ते में स्वामी जी भूख से मूर्छित होकर गिर पड़े। दैव योग से एक फकीर ने खीरा खिलाकर उनकी प्राण रक्षा की। अल्मोड़ा से वे उत्तराखण्ड के तीर्थों का दर्शन करने चल पड़े। कभी ग्राम तो कभी शहर, कभी राज-महल तो कभी गरीब की झोपड़ी। अनेकानेक अनुभवों का संग्रह स्वयमेव होने लगा। महान् और गौरवशाली भारत का वास्तविक रूप उनके अन्तर में उद्भासित हो उठा। उन्होंने देखा कि कैसे मनुष्य के अन्दर भगवान् विक्षुब्ध एवं क्लाँत हो रहे हैं। भारत के जन साधारण का करुण आर्त्तनाद उनके मन को आलोड़ित करने लगा। वे कभी-कभी सिहर उठते—अरे ! वे कैसे निरुपाय एवं निःसहाय हैं।"

मेरठ छोड़ने के बाद दिल्ली, राजपूताना, अलवर, जयपुर आदि विभिन्न स्थानों

का भ्रमण करते हुये स्वामी जी दक्षिण की ओर बढ़े। राजस्थान की एक सभा में बोलते हुये उन्होंने कहा—"मैं एक ऐसा धर्म चाहता हूँ जो हम लोगों में आत्मविश्वास तथा जातीय मर्यादाओं के प्रति निष्ठा जगाने और जन-जन को अन्न, वस्त्र तथा शिक्षा देने के साथ ही हमारे चारों ओर की सभी दुःख वेदनाओं को दूर करने की शक्ति ला दे। यदि भगवान् का साक्षात्कार करना चाहते हो तो मनुष्य की सेवा करो।"

गुजरात भ्रमण कर स्वामी जी बड़ौदा होकर खण्डवा पहुंचे। यहीं उन्होंने सर्वप्रथम शिकागो की धर्म-सभा का समाचार सुना। उसमें योगदान करने के लिये उनकी प्रबल इच्छा हो उठी। हरिदास बाबू के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा—"यदि कोई आने-जाने का खर्च दे तो वहां जाने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है।" इस भ्रमण में स्वामी जी ने भारत की सुप्त आत्मा को स्पष्ट देखा, उसकी समस्याओं पर ममता भरे मन से विचार किया। देश-दशा का दर्शन कर उनका अंतराल द्रवित हो उठा। निद्रा के समय भी उनकी चितायें जागृत रहा करती थीं।

खण्डवा से स्वामी जी बम्बई एवं पूना गये और फिर वहाँ से मैसूर। उस समय मैसूर के अनेक उच्चपदस्थ एवं शिक्षित व्यक्ति उस तरुण यती की ओर आकृष्ट हुये बिना न रहे। मैसूर के बाद कोचीन होकर स्वामी जी त्रिवेन्द्रम (केरल) पहुँचे, यहाँ एक अध्यापक का आतिथ्य स्वीकार किया। सारा विद्वत् समाज अपने आप खिंचा चला आया। त्रिवांकुर के श्री एस० के० नायर लिखते हैं कि "स्वामी जी से जो भी मिला वह उनकी अलौकिक आभा एवं शक्ति से प्रभावित हुये बिना न रह सका। एक साथ अनेक व्यक्तियों के विविध प्रश्नों का उत्तर देने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। स्पेन्सर, शेक्सपियर, कालीदास, डारविन का विवरण, यहूदी जाति का इतिहास, आर्य सभ्यता की उत्पत्ति और विकास क्रम या वेद-वेदान्त, मुसलमान या ईसाई धर्मशास्त्र, किसी भी विषय में उन्हें पीछे हटते नहीं देखा गया। उनके चेहरे पर सरलता एवं गरिमा की आभा स्पष्ट दिखाई पड़ती थी। निर्मल हृदय, तपस्यापूर्ण जीवन, उन्मुक्त चित्त, विशाल दृष्टिकोण, प्राणिमात्र के प्रति सहानुभूति ही उनके चरित्र की विशेषता थी।

रुपये गरीबों को बांट दिये गये

स्वामी जी की पश्चिम जाने की इच्छा देखकर मद्रास के युवकों ने धन-संग्रह करने का संकल्प किया। अल्प प्रयास से ही ५००) इकट्ठा हो गये। परन्तु स्वामी जी इन रुपयों को देखकर प्रसन्न नहीं हुये। वे बोले—"मेरे बच्चों ! मैं आगे बढ़ने के पूर्व ही भगवान की इच्छा जानना चाहता हूँ, यदि मेरा पश्चिम गमन उनको अभिप्रेत होगा तो धन अपने आप आ जायगा। तुम इन रुपयों को गरीबों में बांट दो।"

सब रुपये गरीबों में बांट दिये गये। स्वामी जी ध्यानस्थ बैठे थे। ठीक उसी समय एक रात उन्होंने देखा—'श्री रामकृष्ण देव समुद्र तीर से जल हटाते हुये आगे

बढ़ते जा रहे हैं और उन्हें पीछे आने का संकेत दे रहे हैं। दूसरे ही क्षण यह वाणी सुनाई पड़ी—"जाओ।"

खेतड़ी के महाराज एवं मद्रास में स्वामी जी के प्रिय शिष्य आलासिंगा पेरुमल के प्रयास से पी० एण्ड ओ० कम्पनी के पेनिन्सुलार जहाज में प्रथम श्रेणी का टिकट खरीदा गया। स्वामी जी ३१ मई १८९३ ई० को उस पर सवार होकर विदेश की ओर चले। जहाज की डेक पर खड़े होकर जब उन्होंने पवित्र मातृभूमि का दर्शन किया तो मन भर आया। माता का विछोह वे सहन न कर पाये। एकाएक वे चीख पड़े—आह मेरा भारतवर्ष।'

नन्हें से जापान ने चीन को पराजित किया था

जहाज सागर की छाती चीरते हुए आगे बढ़ता रहा। स्वामीजी डेक पर खड़े पवित्र मातृ-भूमि का तट देखते रहे ! अनेक विचारों में डूबते हुये स्वामी जी के मन में बारबार यह भाव उठ रहे थे, "कैसी चैतन्यमयी, तेज स्वरूपा, ज्ञानदायिनी, बल-शालिनी है मेरी यह मातृभूमि, कैसा सुन्दर, सलोना है इसका महिमामय हिमालय ? कैसे जीवन के धनी हैं यहां के निवासी ! पर हाय रे भारत भूमि ! तू पददलित, तिरस्कृत एवं गुलाम है।" मद्रास के नवयुवकों को अपनी वेदना व्यक्त करने हुये स्वामी जी ने लिखा—"भारतमाता हजारों युवकों की बलि चाहती है—याद रखो मनुष्य चाहियें, पशु नहीं, भारत की जरा-जीर्ण अवस्था हो गई है। देश छोड़ कर बाहर जाने में तुम्हारी जाति नष्ट होती है—ऐसे तुम मूर्ख हो। यदि देश को चाहते हो तो उन्नति के लिये, शक्ति बढ़ाने के लिये, जी-जान से प्रयत्न करो।"

पाथेयहीन परिव्राजक

१६ जुलाई १८९३ ई० को स्वामी जी का जहाज कनाडा पहुँचा। वहां से ट्रेन द्वारा शिकागो के लिये प्रस्थान किया। इस विशाल नगरी में एक भी परिचित नहीं था। न स्वामी जी को ही कोई पूर्व जानकारी थी। १०, १२ दिनों तक वैज्ञानिक उन्नति से जगमगाती इस नगरी को देखते रहे। उससे जब भारत की दीनता की तुलना करते तो आंखों में आंसू आ जातें। यहीं उन्हें पता चला कि धर्म-सभा सितम्बर में होगी। इतने दिनों का खर्च चलाने के लिये धन भी उनके पास नहीं था। प्रतिनिधि सभा की सदस्यता का भी समय बीत चुका था। किसी ओर से सहायता की आशा भी न थी। पर भगवान की आज्ञा थी इसलिये वे रुके रहे और एक दिन मद्रासी युवकों को यह समाचार भेज दिया कि कुछ धन भेज दो। धन की बचत के लिये वे शिकागो से बोस्टन चले गये। उनकी यह यात्रा बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। वहां के परिचय के आधार पर एक पत्र लेकर स्वामी जी शिकागो लौटे। वहां पहुंचते पहुंचते रात हो गई। कमेटी के कार्यालय का पता अज्ञात होने से कहां जाय, क्या करें ? यह समस्या थी।

अन्त में बाध्य होकर उस महापुरुष को स्टेशन पर ही एक खाली बक्से के अन्दर दुबक कर प्रचण्ड शीत लहरी से अपनी रक्षा करनी पड़ी।

प्रातः काल जब कार्यालय की खोज में निकले तो सर्वत्र तिरस्कार एवं झिड़कियां मिलनी प्रारम्भ हो गईं। 'काला आदमी' कह कर सभी अपमान करने लगे। कहीं कहीं तो लोगों ने दरवाजे बन्द कर दिये। काश! उन्हें कोई यह बताता कि एक दिन तुम इसी महापुरुष के दर्शनों के लिये इतने व्याकुल होकर दौड़ोगे कि यह दरवाजा बन्द करना ही भूल जाओगे। परेशान होकर स्वामी जी सड़क के एक किनारे बैठ गये। ठीक उसी समय सामने के मकान से एक महिला ने आकर पूछा—"महाशय। क्या आप धर्म सभा के प्रतिनिधि हैं?" स्वामी जी बोले—"जी हां! पर कार्यालय का पता खो जाने से बड़ी विपत्ति में पड़ गया हूँ।"

वह महिला उसी समय उन्हें अपने घर ले गई। भोजन-विश्राम कराकर धर्म सभा के कार्यालय में ले गई। जहां स्वामी जी को सभा का प्रतिनिधित्व मिल पाया एवं कार्यालय-प्रमुख के द्वारा प्रतिनिधि के साथ रहने की व्यवस्था कर दी गई।

वह अमोघ वाणी

११ सितम्बर १८९३ विश्व के इतिहास का वह स्वर्णिम पृष्ठ है जो कभी धुंधला नहीं हो सकता। प्राच्य और पाश्चात्य के मिलन का वह शुभ दिवस इतिहास का गौरव है। इसी दिन स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित भारत के वेदान्त-धर्म ने विजयी होकर विश्व को आश्चर्य में डाल दिया। हजारों दर्शकों से खचाखच भरे हाल में सभा प्रारम्भ हुई। मंच पर देश-विदेश के सभी धर्मों के प्रतिनिधि विराजमान थे। सभापति की आज्ञा से सभी प्रतिनिधि अपना-अपना परिचय देकर अपने धर्म का संक्षिप्त सा परिचय देते और फिर अपना स्थान ग्रहण कर लेते। अन्त में बारी आयी स्वामी जी की। आध्यात्मिक तेज से जगमगाता दिव्य आनन जैसे ही मंच के ऊपर उभरा, सभा का ध्यान बरबस उधर खिंच गया। पहिले वाक्य ने ही "अमेरिका के बहिनों और भाइयों"—न जाने कैसा जादू भरा था कि सुनते ही करतल ध्वनि से सभास्थल गूंज उठा। बार-बार प्रयास करने पर भी वह आनन्द की हिलोर शान्त होने का नाम ही न लेती। स्वामी जी का भी प्रयास जब काम न कर सका तो वे भी चुप खड़े हो गये। उन शब्दोंमें निहित विपुल शक्ति एवं भारतीय आत्मा के स्नेह से श्रोताओ का हृदय आत्म विभोर हो उठा। जैसे-जैसे स्वामीजी बोलते जाते, श्रोतागण खड़े होते जाते। चारो ओर से बार-बार ऐसी करतल ध्वनि गूंज जाती जो रुकने का नाम ही न लेती। पाश्चात्य जगत के यांत्रिक मानवों के अन्तःकरण में क्षण भर के लिये प्रथम बार मानव जाति के एकत्व की अनुभूति उत्पन्न हुई। स्वामीजी की वाणी में मानव की मानव के प्रति की वेदना बोल रही थी; भारतीय ऋषियों की वाणी झंकृत हो रही थी। रोमा रोलां ने लिखा

है कि "यही श्री रामकृष्ण देव का निःश्वास था जो समस्त विघ्न-बाधाओं का अतिक्रमण कर उनके महान शिष्य के मुख से निकला। उनके भाषण में शाश्वत प्रेम की वाणी गूंज रही थी।'

हिन्दू धर्म की जय जयकार

अपनी उन्नति एवं विकास के गर्वीले अमेरिका वासी पागलों की भांति स्वामीजी के पीछे-पीछे घूम रहे थे। सारा अमेरिका उनके चरणों पर लोट गया। वहां के समाचार पत्रों ने लिखा—"उनकी वक्तृता सुनने के बाद भारत की तरह ज्ञान-समृद्ध देश में धर्मप्रचारक भेजना कैसी मूर्खता की बात है इसे हम विशेष रूप से अनुभव कर रहे हैं।" भगिनी निवेदिता ने लिखा है—"स्वामीजी ने जब शिकागो महासभा में भाषण देना प्रारम्भ किया तो हिन्दू संस्कृति का अतीत उनके माध्यम से श्रोताओं के समक्ष साक्षात् खड़ा हो गया। भारत के गौरवशाली भूतकाल की ज्योति देखकर वे हतप्रभ हो गये। पर जब उनका भाषण समाप्त हुआ तब आधुनिक हिन्दू धर्म की सृष्टि हुई।' महासभा का उनका अन्तिम भाषण दि० २७ सितम्बर को हुआ। जिसने भारतीय संस्कृति को महत्व के सर्वोच्च शिखर पर अधिष्ठित कर दिया।

मातृभूमि की पूजा करो

धर्म-सभा के पश्चात् अमेरिका का भ्रमण प्रारम्भ हुआ। फरवरी १८९५में उन्होंने न्यूयार्क में राजयोग एवं ज्ञानयोग पर अपना प्रभावी विचार व्यक्त करना प्रारम्भ किया। लोग सभा में ऐसे जमते कि उठने का नाम ही न लेते। स्वामीजी विजयी वीर की तरह उन पर अपना प्रभाव छोड़ते जा रहे थे। पर इस दिग्विजय के गर्व में वे भारत को नहीं भूले। अपनी मातृभूमि, उसके पददलित पुत्रों की दीनता उनकी आंखों के सामने सदा खड़ी रहती। उन्होंने एक पत्र में लिखा—'आगामी ५० वर्षों के लिये सभी देवताओं को मन से निकाल देना होगा। हमारा एकमात्र जागृत देवता हमारी जाति है। इस विराट की पूजा ही हमारी मुख्य पूजा होगी। सबसे पहिले जिस देवता की पूजा करेंगे—वह हैं हमारे देशवासी।"

अंग्रेजों के घर में

स्वामी जी की यशोगाथा अमेरिका से इंग्लैण्ड पहुंची। वहां से निमन्त्रण आने लगे। पर एक गुलाम देश के प्रतिनिधि का, जो उन्हीं का गुलाम था, वे स्वागत कैसे करें, यह प्रश्न था? पर कुछ दिनों बाद ही उनका प्रमाद ढह गया। १८ नवम्बर १८९५ को अपने एक मद्रासी शिष्य को स्वामीजी लिखते हैं—'इंग्लैण्ड में मेरा काम बहुत अच्छा हुआ है। मुझे इस सम्बन्ध में स्वयं आश्चर्य है।' इगलैण्ड की इस यात्रा में उन्होंने भारत को पददलित करने वाली अंग्रेज जाति को भारतीय संस्कृति की महत्ता का दिग्दर्शन कराया। आधी दुनिया पर शासन करने वाली अंग्रेज जाति एक गुलाम देश

के इस कौषेयवस्त्र धारी धर्मदूत की ज्ञान-गरिमा के सम्मुख नत मस्तक हो गई। श्रद्धाभिभूत होकर एक महिमामयी भगिनी, स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण कर भारत आयी और आजीवन भारत की सेवा करती रही। आज सारा भारत उसे भगिनी निवेदिता के नाम से पहचानता है।

स्वामीजी अमेरिकी शिष्यों के आग्रह पर पुनः अमेरिका लौट आये। कुछ दिन अमेरिका में धर्म प्रचार करने के पश्चात् उन्हें इंग्लैण्ड जाना पड़ा। इस बार प्रसिद्ध विद्वान मैक्समूलर से उनकी भेंट हुई। वहां से वे योरप-भ्रमण पर निकले। जर्मनी, फ्रांस एवं स्विट्जरलैण्ड आदि का भ्रमण कर वे पुनः इंग्लैण्ड वापस चले गये।

'भारत मेरा सर्वस्व'

इस लम्बी अवधि तक भारत से दूर रहने का दुःख बढ़ता ही गया। भारत की चिन्ता घनीभूत होती गई। यहां सारा भारत उनके दर्शनों के लिये व्याकुल था। उसी समय एक अंग्रेज मित्र ने उनसे पूंछा--"स्वामी जी, इन कई वर्षों तक पाश्चात्य देशों में रहने के बाद भारत आपको कैसा लगेगा ?" अत्यन्त ही आवेश के साथ उन्होंने उत्तर दिया—"पाश्चात्य देशों में आने के पूर्व मैं भारत को हृदय से प्यार करता था, किन्तु अब मेरे लिये भारत की वायु, यहां तक भारत का प्रत्येक धूलि-कण स्वर्ग से भी अधिक पवित्र है। भारतभूमि पवित्र भूमि है। भारत मेरा तीर्थ है।"

स्वदेशागमन

१६ दिसम्बर सन् १८९६ ई० को स्वामी जी लन्दन छोड़कर, डोवर, केले और मान्टसेनिस के रास्ते इटली पहुँचे। ३० दिसम्बर को नेपल्स से उनका जहाज छूटा। सन् १८९७ ई० की १५ जनवरी को स्वामी जी कोलम्बो पहुंचे। भगवे वस्त्र से आवेष्ठित संन्यासी को देखते ही उपस्थित जन-समुदाय हर्ष से नाच उठा। सहस्रों लोग उनके चरणों पर लोट गये। सिंहल के विभिन्न स्थानों में स्वामीजी १० दिन तक घूमते रहे। फिर चल पड़े भारत की ओर जहां की जनता अपने इस धर्मदूत का स्वागत करने के लिए आतुर हो रही थी।

माँ की गोद में

कोलम्बो से जहाज छूटा और स्वामी जी का अन्तकरण मातृभूमि के दर्शन के लिए व्यग्र हो उठा। जैसे ही दूर से भारत का समुद्रतट दिखाई पड़ा उनके नयनों से आनन्दाश्रुओं की धारा बह चली। हाथ जोड़कर वे एक टक उस तट की ओर देखते रहे। मानों साक्षात भारत मां का दर्शन कर रहे हों। जहाज किनारे पर लगते ही पागलों की तरह स्वामीजी डेक से नीचे उतरे और भारत की भूमि पर पैर रखते ही साष्टांग प्रणाम कर उस धूल में इस प्रकार लौटने लगे मानो बरसों बाद कोई बच्चा अपनी मां की गोद में पहुँचा हो। उनके मुख से अनायास ही ये

शब्द फूट पड़े "विदेशों में रहकर जो कुछ भी अपवित्रता मेरे शरीर या मन को छू गई हो, भारत की इस पवित्र धूल के स्पर्श से वह सब नष्ट हो गई। माँ की गोद में मेरे सब कल्मष धुल गये।" "बार-बार वे भूमिको नमन करते और उसकी जय-जयकर करते जाते। देशभक्ति की उस जान्हवी में अवगाहन करने वाला उपस्थित जन-समुदाय यदि इस दृष्य को देखकर आत्मविभोर हो उठा हो तो आश्चर्य भी क्या ?

मद्रास में

फिर स्वामीजी मद्रास पहुँचे। मद्रास में वे ९ दिन तक रहे। कोलम्बो से मद्रास तक की यात्रा में, स्वागत समारोहों के कारण स्वामीजी काफी क्लान्त हो गये थे। विभिन्न स्थानों से निमंत्रण आ रहे थे। पर उन्होंने सब अस्वीकार कर दिये और २० फरवरी १८९७ को स्वामीजी कलकत्ते पधारे।

कलकत्ते में स्वामीजी का बड़े उल्लासमय वातावरण में स्वागत हुआ। स्वागत-समारोहों के इस क्रम में वे अपना काम नहीं भूले। उनके सभी गुरु-भाई एवं शिष्य उनसे आ मिले। सबको विभिन्न प्रान्तों में भेजकर उन्हें उनका काम बताकर स्वयं संगठन कार्य में लग गये। इसी समय स्वामी विवेकानन्द ने नर-नारायण की सेवा के लिये रामकृष्ण मिशन की स्थापना की।

उत्तर भारत की यात्रा

मिशन की स्थापना के कुछ दिन बाद ही स्वामी जी उत्तर भारत की यात्रा पर निकल पड़े। अल्मोड़ा एवं पंजाब होते हुये वे कश्मीर पहुँचे। उसके अनन्तर स्यालकोट, लाहौर, देहरादून आदि स्थानों पर भाषण देते हुये राजस्थान गये। उनकी वाणी ने सभी के अन्तर को उद्दीपित कर दिया। उन्होंने देशवासियों को पुकार-पुकार कर कहा—"तुम सभी में ब्रह्म की शक्ति है। दरिद्रों के भीतर भगवान तुम्हारी सेवा पाना चाहता है।"

पुनः विदेश यात्रा पर

स्वामीजी की प्रत्येक योजना कार्य रूप में परिणित होती जा रही थी, फिर भी पश्चिम की अवस्था वे न भूले। यद्यपि स्वास्थ्य बिगड़ रहा था फिर भी डाक्टरों की सलाह लेकर वे समुद्र यात्रा पर निकल पड़े। स्वामी तुरियानन्द एवं निवेदिता उनके साथ चलीं। २० जून १८९९ ई० को स्वामी का जहाज कलकत्ते से रवाना हुआ। ३१ जुलाई को विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हुए वे लन्दन पहुँचे। अपार भीड़ लग गई। यहां किसी भी सभा में भाषण न देते हुये वे न्यूयार्क चले गये। इस बार वे लगभग १ वर्ष अमेरिका में रहे। इस पाश्चात्य भ्रमण में स्वामीजी का ध्यान अमेरिका और योरोप के जीवन-दर्शन के पीछे की हिंसक, भोग-लालसा, स्वार्थ, सम्राज्यवाद की लोलुप दृष्टि आदि की ओर आकृष्ट हुआ। पाश्चात्य सभ्यता में

व्याप्त वाह्य चमक पर उन्होंने भीषण प्रहार किया। वे निवेदिता से बोले— "पाश्चत्यों की जीवन यात्रा अट्टहास की तरह है परन्तु उसके नीचे रुदन है। उसकी परिसमाप्ति भी रुदन में ही होगी।"

६ दिसम्वर सन् १६६० ई० को वे पेरिस से वियना, हंगरी, सर्विया, रूमानिया बुल्गेरिया, कुस्तुनतुनिया होकर मिस्र का भ्रमण करते हुए वम्वई से वेलूर आ गये। स्वास्थ्य काफी विगड़ चुका था फिर भी ढाका आदि का दौरा करने चले गये।

जन कल्याण के लिए……

इसके वाद स्वामी जी इतने अस्वस्थ हो गये कि कहीं भी आना-जाना दूभर हो गया। रोग-शैय्या पर भी भारत के पुनः जागरण की लालसा उन्हें व्यथित कर देती थी। उन्होंने लेटे-लेटे अपने एक मद्रासी शिष्य को लिखा—"जव तक प्राण मेरे शरीर को छोड़ न देंगे तव तक मैं काम करता चलूगा और मृत्यु के वाद भी संसार के कल्याण के लिये काम करता जाऊंगा।"

धीरे-धीरे स्वामीजी महाप्रस्थान की तैय्यारी कर रहे थे। फिर भी पास आने वालों को कभी लौटाते नहीं थे। वे कहते—"यदि स्वदेश-वासियों की आत्माओं को प्रवुद्ध करने के लिये सैकड़ों वार मुझे मृत्यु-यातनाओं का कष्ट भोगना पड़े तो भी मैं पीछे न हटूंगा।" क्रमशः सांसारिक वातों से वे उदासीन होते गये। गुरु-भाइयों को चिन्ता होने लगी। उन्हें ठाकुर की वात याद आई—"जव वह अपना स्वरूप जान जायगा तव शरीर नहीं रखेगा।" एक दिन एक गुरु भाई ने पूंछ ही तो लिया— 'स्वामी' आप कौन हैं? क्या आपने यह जान लिया है?"वे वोले—हां जान गया हूँ। श्री रामकृष्ण देव ने मेरी चाभी मुझे वापस कर दी है।"

४ जुलाई सन् १६०२ ई० को प्रातःकाल से ही स्वामी जी अपनी सामान्य स्थिति में नहीं थे। आज वे विह्वाल से इधर-उधर घूमते, वैठते, वाते करते पर उन की व्याकुलता में कोई कमी न आती। उनका भावावेश वढ़ते हुए सूर्य ही के साथ वढ़ता ही जा रहा था। काली 'मां' के मन्दिर में गये तो घन्टो भाव समाधि में वैठे रहे। उन्हें देखकर ऐसा लगता था कि जैसे उनका कुछ खो गया है। मानो वे किसी अमूल्य निधि की खोज कर रहे हो, किसी अप्राप्य की प्राप्ति की कामना उन्हें सता रही हो। उनकी उद्विग्नता इस सीमा तक वढ़ गई कि टहलते-टहलते वीच-वीच में स्वयं से ही बोल उठते 'है कोई जो समय की चुनौती स्वीकार कर इन ऋषि-सन्तानों को पतन की ओर जाने से वचा सके; जो इस भौतिकवाद के चका-चौंध में मानव को उसका जीवनोद्देश्य वता सके, उसको राह दिखा सके?" शायद वे उस विवेकानन्द की खोजमें थे जो उनके अधूरे कामको पूराकर स्वामीजी द्वारा प्रज्ज्व-लित ज्योति को सदा जलाये रखता। इस जीवन की अन्तिम वेला में सम्भवतः यह

कमी ही उनकी व्यथा का कारण थी। दिन भर अर्न्तद्वन्द्व, मानसिक कष्ट, किसी अज्ञात आन्तरिक यंत्रणा एवं विचारों के उहापोह में वे इधर-उधर घूमते रहे। कहीं भी विश्राम न मिलता। यहाँ तक कि 'मां' मन्दिर में भी नहीं।

अनन्त की ओर

'मां' काली के मन्दिर में सांन्ध्य पूजा की घण्टी बजी तो वे भी अपना जीवन पुष्प लेकर अर्चना के लिये आ पहुंचे। यह उनके जीवन के उस पार्थिव शरीर के माध्यम से अन्तिम पूजा थी। आरती के दीप जले तो उन्होंने उन दीपों में जैसे कुछ अनोखी वस्तु देख ली हो। मन्दिर से निकल आये। आश्रम के सबसे ऊपरी भाग में जा खड़े हुए। वहां से ठीक सामने था पूज्य गुरुदेव का महासमाधि स्थल। वे अपलक उसकी ओर भावविभोर हो देखते रहे। कब तक इसका ध्यान उन्हें भी नहीं रहा। उनकी आंखें खुली तो अपने को एक तकिये के सहारे लेटा पाया। स्वामी जी की गीलीं आखें किसी असह्य वेदना की स्पष्ट सूचना दे रही थी। उस दिन शायद उन्हें रामकृष्ण देव द्वारा बताये गये उस रहस्य का पता चल गया था कि "यदि नरेन्द्र जान जायगा कि वह कौन है ? तो फिर इस दुनियाँ में न रहेगा।" और सम्भवतः इस ज्ञानका कपाट खोलने की वह चाभी जो गुरुदेव ने अपने पास रख ली थी आज उन्हें वापस कर दी था। समस्त विश्व मानवता का सम्बल, 'मां' भारती का तेजस्वी सपूत आज सबको असहाय करके जाने को तैयार हो रहा था। आरती के उन दीपों में उसने अपने जीवन का प्रकाश देखा था। सब के देखते ही देखते एक लम्बी सांस खींच कर वे उस दिव्य ज्योति में मिल गये जिसके अंश थे। सप्तर्षि मण्डल का ऋषि अपने पूर्व स्थान पर चला गया। शिष्यों ने देखा स्वामी जी अब नहीं रहे। शेष रह गया आभा से प्रदीप्त उनका पार्थिव शरीर, और छोड़ गये वे विश्वके लिए वेदान्त की वाणी, मानवात्मा के अमरत्व एवं एकत्व का सन्देश, स्वाधीनता एवं स्वदेश प्रेम की वह धधकती ज्वाला जो भारत माता के कोटि-कोटि सपूतों का कलमष जलाकर उन्हें सदा जगाये रखेगी; जो भूले भटके मानवों को मार्ग दिखाती रहेगी।**

—:o:—

भाग १

संदेश

सन्देश

ध्यान दो,

तभी और केवल तब ही तुम हिन्दू कहलाने के अधिकारी हो, जब इस नाम को सुनते ही तुम्हारी रगों में शक्ति की विद्युत-तरंग दौड़ जाय।

तभी और केवल तब ही तुम हिन्दू कहलाने के अधिकारी हो, जब इस नाम को धारण करने वाला प्रत्येक व्यक्ति,—वह चाहे जिस देश का हो, वह चाहे तुम्हारी भाषा बोलता हो अथवा कोई अन्य—प्रथम मिलन में ही तुम्हारा सगे से सगा तथा प्रिय से प्रिय बन जाय!

तभी और केवल तब ही तुम हिन्दू कहलाने के अधिकारी हो जब इस नाम को धारण करने वाले किसी भी व्यक्ति का दुःख-दर्द तुम्हारे हृदय को इस प्रकार व्याकुल कर दे मानो तुम्हारा अपना पुत्र संकट में हो।

तभी और केवल तब ही तुम हिन्दू कहलाने के अधिकारी हो सकोगे, जब तुम उनके लिए सब कुछ सहने को तत्पर रहोगे। उन महान् गुरु गोविन्दसिंह के समान, जिन्होंने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये अपना रक्त बहाया, रणक्षेत्र में अपने लाड़ले बेटों को बलिदान होते देखा, पर जिनके लिए उन्होंने अपना तथा अपने सगे-सम्बन्धियों का रक्त चढ़ाया, उनके ही द्वारा परित्यक्त होकर वह घायल सिंह कार्यक्षेत्र से चुपचाप हट गया और दक्षिण जाकर चिरनिद्रा में खो गया। किन्तु, जिन्होंने कृतघ्नतापूर्वक उनका साथ छोड़ दिया था, उनके लिये

अभिशाप का एक शब्द भी उस वीर के मुंह से न फूटा। यह है आदर्श उस महान् गुरु का !

स्मरण रहे,

यदि तुम अपने देश का कल्याण करना चाहते हो तो तुम में से प्रत्येक को गुरु गोविन्दसिंह बनना होगा। भले ही तुम्हें अपने देशवासियों में सहस्रों दोष दिखायी दें पर ध्यान रखना कि उनमें हिन्दू रक्त है। वे तुम्हें हानि पहुँचाने के लिए सब कुछ करते हों, तब भी वे प्रथम देवता हैं जिनका तुम्हें पूजन करना है। यदि उनमें से प्रत्येक तुम्हें गाली दे, तब भी तुम्हें उनके लिए स्नेह की भाषा बोलनी है और यदि वे तुम्हें धक्क देकर बाहर कर दें, तब भी तुम कहीं दूर जाकर उस शक्तिशाली सिंह—गोविन्दसिंह के समान मृत्यु की गोद में चुपचाप सो जाना। ऐसा ही व्यक्ति हिन्दू कहलाने का वास्तविक अधिकारी है, यही आदर्श सदैव हमारे सामने रहना चाहिए।

आओ, हम अपने समस्त विवादों एवं आपसी कलह को समाप्त कर स्नेह की इस भव्य-धारा को सर्वत्र प्रवाहित कर दें।



हमारी पुण्य-भूमि और उसका गौरवमय अतीत

यदि इस पृथ्वीतल पर कोई ऐसा देश है, जो मंगलमयी पुण्यभूमि कहलाने का अधिकारी है; ऐसा देश, जहाँ संसार के समस्त जीवों को अपना कर्मफल भोगने के लिए आना ही है; —ऐसा देश जहाँ ईश्वरोन्मुख प्रत्येक आत्मा का अपना अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए पहुँचना अनिवार्य है; ऐसा देश जहाँ मानवता ने ऋजुता, उदारता, शुचिता एवं शांति का चरम शिखर स्पर्श किया हो,—तथा इन सबसे आगे बढ़कर भी जो देश अन्तर्दृष्टि एवं अध्यात्मिकता का घर हो—तो वह देश भारत ही हैं।

अतीत गाथा

भारत का प्राचीन इतिहास अलौकिक उद्यम एवं उनके बहुविध प्रदर्शन, असीम उत्साह, विभिन्न शक्तियों की अप्रतिहत क्रिया और प्रतिक्रिया के समन्वय तथा इन सबसे परे एक देवतुल्य जाति के गम्भीर चिन्तन की अपूर्व गाथा है। यदि 'इतिहास' शब्द का अर्थ केवल राजे-रजवाड़ों की कथाओं से ही लिया जाय, यदि केवल समाज-जीवन के उस चित्रण को ही इतिहास माना जाय जिसमें समय-समय पर होने वाले शासकों की कलुषित वासनाओं, उद्दण्डता और लोभवृत्ति का नग्न ताण्डव देख पड़ता हो, अथवा उन शासकों के अच्छे-बुरे कृत्यों तथा उनके तत्कालीन समाज पर परिणाम के विवेचन को ही 'इतिहास' की संज्ञा दी जाय—तो शायद भारत में ऐसा कोई इतिहास ग्रन्थ नहीं मिलेगा। किन्तु भारतके विशाल धार्मिक साहित्य, काव्य-सिन्धु, दर्शनग्रन्थों एवं विभिन्न शास्त्रों की प्रत्येक पंक्ति हमारे समक्ष -विशिष्ट राजाओं की वंशावलियों एवं जीवन चरित्रों की अपेक्षा सहस्र गुना अधिक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करती है, प्रगति के उस महाअभियान के प्रत्येक चरण का, जब, सभ्यता के विहान के बहुत पूर्व एक विशाल मानव समूह ने भूख प्यास से परिचालित, लोभ-मोह से प्रेरित, सौन्दर्यतृष्णा से आकर्षित होकर अनेक भावों से गुजर कर अपनी महान् और अपराजेय बुद्धिबल के सहारे अनेक मार्गों और उपायों का आविष्कार कर पूर्णता की परमावस्था को

प्राप्त कर लिया था। यद्यपि विपरीत परिस्थितियों के भीषण झंझावातों ने प्रकृति के विरुद्ध उनके युग-युगों तक संघर्ष के परिणामस्वरूप एकत्र हुई असंख्य जय पताकाओं को जीर्ण-शीर्ण कर डाला और काल के थपेड़ों ने उन्हें जर्जर कर डाला, तथापि वे आज भी भारत के अतीत गौरव की गाथायें गा रही हैं।

आर्य जाति

आज यह जानने का हमारे पास कोई उपयुक्त साधन नहीं है कि यह जाति मध्य एशिया, उत्तरी योरप या उत्तरी ध्रुव प्रदेश से धीरे-धीरे आगे बढ़ी और क्रमशः आगे बढ़ते हुए अन्त में इसने भारतवर्ष में बस कर उसे पवित्र बनाया अथवा भारत की यह पुण्य-भूमि ही उसका मूल-स्थान रही है।

आज हमारे पास कोई भी ठोस आधार यह सब प्रमाणित करने के लिए नहीं है कि भारत के अन्दर अथवा बाहर बसी हुई इस विशाल जाति ने ही, प्राकृतिक नियमों के अनुसार अपने मूलस्थान से निष्क्रमण कर, कालान्तर में योरप एवं अन्य स्थानों पर अपने उपनिवेश बसाये,—अथवा, इन लोगों का वर्ण श्वेत था या कृष्ण, उनकी आँखें नीली थीं या काली, उनके केश सुनहरे थे या काले। केवल संस्कृत भाषा की कतिपय योरोपीय भाषाओं से घनिष्ठता का अकेला तथ्य आज हमारे पास है।

इसी प्रकार इस अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचना भी सरल नहीं है कि हम सभी वर्तमान भारतीय उस जाति के शुद्ध वंशज हैं, अथवा हमारी रगों में उनका कितना रक्त बह रहा है अथवा हममें कितनी ऐसी जातियाँ हैं, जिनमें उस रक्त का लवमात्र भी है।

कुछ भी हो, इन प्रश्नों का अन्तिम हल नहीं निकलता है तो हमारी कोई विशेष हानि नहीं है।

परन्तु एक बात ध्यान में रखनी होगी कि जिस प्राचीन भारतीय जाति में सभ्यता की किरणें सर्वप्रथम उदित हुई, जिसमें गहन चिन्तनशीलता ने स्वयं को अपनी पूर्ण आभा के साथ सर्वप्रथम प्रचारित किया, उस जाति के हजारों, लाखों पुत्र, उसी मेधा के अंशभूत—आज भी उन समस्त भावों एवं चिन्तन के उत्तराधिकारी के रूप में विद्यमान हैं।

नदी, पर्वत एवं समुद्रों को लांघकर, देश-काल की बाधाओं को मानों नगण्य कर, भारतीय चिन्तन का रक्त भूमण्डल पर रहने वाली अन्य जातियों की नसों में अनेक जाने-अनजाने, स्पष्ट, अनिर्वचनीय मार्गो से, अब तक प्रवाहित हुआ है और आज भी हो रहा है। संभवतः विश्व की पुरातन ज्ञानराशि का बहुतांश हमारी देन है।

विश्लेषणात्मक मेधा

'नासतः सत् जायते!' निरस्तित्व में से अस्तित्व का जन्म नहीं हो सकता है।......
जिसका अस्तित्व है, उसका आधार निरस्तित्व नहीं हो सकता। शून्य में से 'कुछ'

सम्भव नहीं। यह 'कार्य-कारण-सिद्धान्त' सर्वशक्तिमान है और देशकालातीत है। इस सिद्धान्त का ज्ञान उतना ही पुराना है जितनी आर्य जाति। सर्वप्रथम आर्य-जाति के पुरातन ऋषि-कवियों ने इसका गान किया, उसके दार्शनिकों ने इसका प्रतिपादन किया और उस आधार-शिला का रूप दिया जिसके ऊपर आज भी सम्पूर्ण हिन्दू-जीवन का प्रासाद खड़ा होता है।

एक अपूर्व जिज्ञासा लेकर इस जाति ने अपनी यात्रा आरम्भ की। किन्तु शीघ्र ही वह एक निर्भीक विश्लेषण में परिणत हो गई। यद्यपि उनकी प्रारम्भिक कृतियों को देखकर लगता है मानों वे किसी भावी श्रेष्ठ कलाकार ने कांपते हाथों बनायी हों, तथापि शीघ्र ही उसने आश्चर्यजनक परिणाम दिखाये, उसकी कृतियों में अपूर्व सुघड़ता आ गयी और उसने एक अति वैज्ञानिक शास्त्र को जन्म दिया।

इस साहसी जाति ने अपनी यज्ञवेदियों की प्रत्येक ईंट को छान डाला; अपने शास्त्रों के प्रत्येक स्वर-अक्षर को छान-बीना, परखा और जोड़ा; अपने सम्पूर्ण कर्मकाण्ड को शंका, अस्वीकृति एवं समाधान की मंजिलों से पार कर कई बार व्यवस्थित रूप प्रदान किया।

इस जाति ने कभी अपने देवताओं को उलट-पुलट कर परखा तो कभी अपने उस प्रजापति को, जिसे वे अब तक सृष्टि का सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा जन्मदाता मानते आये थे, केवल गौण स्थान दिया, तो कभी उसे बिल्कुल अनुपयोगी कहकर किनारे फेंक दिया और उसके बिना ही एक विश्व-धर्म (बौद्ध धर्म) का श्री गणेश किया, जिसके आज भी संसार में किसी अन्य धर्म से अधिक अनुयायी हैं।

इस जाति ने विविध प्रकार की वेदियों की रचना में ईंटों की व्यवस्था से रेखा-गणित शास्त्र का विकास किया और अपनी उपासना तथा यज्ञों को निश्चित समय पर करने के प्रयास में ज्योतिष शास्त्र को जन्म दे संसार को चकित कर दिया।

इस जाति ने गणित शास्त्र को संसार की किसी भी अर्वाचीन अथवा प्राचीन जाति से कहीं अधिक योगदान किया। रसायन शास्त्र वैद्यक-शास्त्र एवं संगीत शास्त्र के अपने ज्ञान तथा वाद्य-यन्त्रों के आविष्कार के द्वारा आधुनिक योरोपीय सभ्यता के निर्माण में भारी सहायता पहुँचायी।

इस जाति ने ही आकर्षक कथाओं के माध्यम से शिशु-मस्तिष्क को संस्कारित करने के शास्त्र का आविष्कार किया। आज भी प्रत्येक सभ्य देश के शिशु-विद्यालयों में प्रत्येक शिशु को उसी पद्धति से पढ़ाया जाता है और वह जीवन-पर्यन्त इन संस्कारों को लेकर चलता है।

इस विश्लेपणात्मक जिज्ञासा के आगे और पीछे, उसके चारों ओर एक मखमली आवरण के रूप में विद्यमान, उस जाति की एक अन्य महान् बौद्धिक विशेषता है—और वह है उसकी कवित्वमय अन्तर्दृष्टि। उसका धर्म, उसका दर्शन, उसका इतिहास,

उसका नीतिशास्त्र, उसका राज्य-शास्त्र, सब काव्यमयी कल्पना के पुष्प-कुंज में सजा दिये गये हैं—और यह सब चमत्कार है उस संस्कारित भाषा का, जिसे हम 'संस्कृत' कहते हैं, जिसके अतिरिक्त किसी अन्य भाषा में उन्हें इससे अधिक अच्छी प्रकार व्यक्त करना न सम्भव था, न है। यहां तक कि गणित-शास्त्र के कठोर तथ्यों की अभिव्यक्ति के लिए भी उस भाषा ने हमें संगीतमय अंक प्रदान किये।

यह विश्लेषणात्मक शक्ति तथा साहसी कवित्व-दृष्टि ही हिन्दू-जाति की मनोरचना में वे दो महातत्व हैं जिन्होंने उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। वे दोनों मिलकर हमारे राष्ट्रीय चरित्र का केन्द्र विन्दु बन गये। इनके समन्वय ने ही जाति को सदैव इंद्रियों के परे बढ़ने की शक्ति दी। यही हमारी उन लचीली कल्पनाओं का मूल रहस्य है. जो किसी शिल्पी द्वारा निर्मित उन लौहपत्रों के समान है, जो यद्यपि एक कठोर लौह-स्तम्भ में से काटकर निकाले गये हैं तथापि इतने लचीले हैं कि उन्हें सरलतापूर्वक वृत्ताकार किया जा सकता है।

उन्होंने कविता की; सोने और चाँदी में, रत्नों की जड़ावट में, संगमरमर के अद्‌भुत फर्शों में, अनेक स्वरोंके संगीत में, तथा आश्चर्यजनक वस्त्रों में, जो वस्तु-जगत की अपेक्षा स्वप्नजगत के प्रतीत होते हैं। उन सभी के पीछे इस राष्ट्रीय वैशिष्ट्य का सहस्रों वर्ष लम्बा इतिहास विद्यमान है।

सम्पूर्ण कलाओं और शास्त्रों, यहाँ तक कि पारिवारिक जीवन की कठोर वास्तविकताओं को भी इन कवित्वमयी धारणाओं के आवरण से ढ़क दिया गया है। ये धारणायें तब तक आगे बढ़ायी गयी हैं जब तक इंद्रियगम्य का संयोग अतीन्द्रिय से नहीं हो जाता और दृश्य में अदृश्य की सुगन्ध नहीं आ जाती।

इस जाति की प्राचीनतम झाँकियों में भी हम उसे इस वैशिष्ट्य से सम्पन्न और उसके प्रयोग में कुशल पाते हैं। निश्चित ही, वेदों में इस जाति का जो चित्र हमें मिलता है उसके निर्माण के पूर्व उसने धर्म और समाज के अनेक रूपों एवं अवस्थाओं को पार कर पीछे छोड़ दिया होगा।

वेदों में एक सुगठित देवशास्त्र, विस्तृत कर्मकांड, विविध व्यवसायों की आवश्यकता की पूर्ति के हेतु जन्मगत-वर्गो पर आधारित समाज-रचना एवं जीवन की अनेक आवश्यकताओं तथा अनेक विलासिताओं का वर्णन उपलब्ध है।

अध्यात्मिकता का आदिस्रोत

यही वह पुरातन भूमि है जहाँ ज्ञान ने अन्य देशों में जाने के पूर्व अपनी आवास भूमि बनाई थी—यही वह भारतवर्ष है, जिसके अध्यात्मिक प्रवाह के भौतिक प्रतीक ये समुद्राकार नद हैं और चिरन्तन हिमालय एक तह पर दूसरी यह चढ़ाकर अपने

हिममण्डित शिखरों द्वारा मानो स्वर्ग के रहस्यों में ही झाँक रहा है। यह वही भारतवर्ष है जिसकी धरा को महानतम ऋषियों की चरण रज पवित्र कर चुकी है।

यही सर्वप्रथम मानव-प्रकृति एवं अन्तर्जगत के रहस्यों की जिज्ञासाओं के अंकुर उगे थे। यहीं आत्मा की अमरता, एक परमपिता परमेश्वर की सत्ता, प्रकृति और मनुष्य के भीतर ओत-प्रोत एक परमात्मा के सिद्धाँत सर्वप्रथम उठे, और यहीं धर्म तथा दर्शन के उच्चतम सिद्धांतों ने अपने चरमशिखर स्पर्श किये। इसी भूमि से अध्यात्म एवं दर्शन की लहर पर लहर बार-बार उमड़ी और समस्त संसार पर छा गयी।

देवत्व प्राप्ति के लिए संघर्ष

क्या अद्‌भुत देश है यह ! इस पुण्य भूमि पर चाहे जो खड़ा हो—वह इसी भूमि का पुत्र हो अथवा विदेशी—यदि उसकी आत्मा दुर्दान्तपशुओं के स्तर तक नहीं गिर चुकी है तो—वह स्वयं को पृथ्वी के इन श्रेष्ठतम एवं शुद्धतम पुत्रों के तेजोमय विचारों से घिरा हुआ अनुभव करेगा, जो शताब्दियों तक पशु को देवत्व के शिखर तक उठाने के लिए कार्य करते रहे हैं और जिनका आरम्भ खोजने में इतिहास भी असफल रहा है। यहां का वायुमण्डल ही अध्यात्मिकता की तरंगों से ओतप्रोत है।

यह देश दर्शन, अध्यात्मिकता, नीतिशास्त्र एवं उन सबका पुण्य धाम है, जो मनुष्य को पशुत्वके विरुद्ध उसके सतत संघर्ष में विश्रामस्थल प्रदान करते हैं। यह देश ही वह साधना भूमि है जिसके द्वारा मनुष्य अपने 'कर्त्ता' के आवरण को फेंककर अजर-अमर आदि-अन्त रहित आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है। यही देश है जहाँ सुखों का प्याला भरा रहा और उससे भी अधिक भरा रहा दुःखों का प्याला—किन्तु तभी तक, जब मानव को सर्वप्रथम यह पता न चला कि यह सब मिथ्या है, माया है। यहीं सबसे पहले यौवन के पूर्ण विकास में, पर भोग-विलासों की गोद में, शक्ति और यश के चरम शिखर पर आसीन मनुष्य ने माया की जंजीरों को तोड़ डाला।

यहीं मानवता के समुद्र में आनन्द और पीड़ा, सामर्थ्य और दौर्बल्य, वैभव और दारिद्र्य, सुख और दुःख, हास्य और रुदन, जीवन और मृत्यु की शक्तिशाली लहरों के घात-प्रतिघात के आलोड़न के बीच दिव्य-शान्ति और शाश्वत निस्तब्धता की तीव्र आकांक्षा में से वैराग्य का सिंहासन प्रगट हुआ।

यहाँ इसी देश में सर्वप्रथम "जन्म-मरण की कठिन समस्या है, जीवन की तृष्णा और उसे बनाये रखने के लिए वृथा घोर संघर्ष, जिनका परिणाम केवल दुःखों के संचय में हुआ" इन सब समस्याओं का सामना किया गया और उन्हें हल किया गया। उनको इस तरह हल कर दिया गया मानों वे कभी पहले थी ही नहीं और आगे कभी रहेंगी भी नहीं। यहाँ और केवल यहाँ ही यह खोज हुई कि जीवन स्वयं भी एक अभिशाप है और किसी ऐसी सत्ता की प्रतिच्छाया मात्र है, जो एकमेव सत्य है।

यही वह देश है जहाँ धर्म को व्यावहारिक एवं सच्चा रूप प्राप्त हुआ और केवल यहीं स्त्री तथा पुरुष, धर्म के अन्तिम लक्ष्य का साक्षात्कार करने के लिए साहसपूर्वक कूद पड़े। बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार, अन्य देशों में लोग जीवन के सुखों को लूटने के लिए पागल होकर कूद पड़ते हैं और अपने कमजोर बन्धुओं को लूट लेते हैं।

यहीं और केवल यहीं मानव अन्तःकरण का विस्तार इतना अधिक हुआ कि उसमें न केवल सम्पूर्ण मानव-जाति समा गयी अपितु पशु-पक्षी और पेड़-पौधों को भी स्थान मिल गया। उच्चतम देवताओं से लेकर रेत के कणों तक, महानतम से निम्नतम तक सब कोई उस विशाल अनन्त मानव अन्तःकरण में स्थान पा गये और केवल यहीं मानव-आत्मा ने सकल ब्रह्माण्डको एक अविच्छिन्न, अखण्ड इकाई के रूप में देखा और उसकी प्रत्येक धड़कन को अपनी धड़कन जाना।

सौम्य हिन्दू

सम्पूर्ण विश्व पर हमारी मातृभूमि का महान् ऋण है। एक-एक देश को लें तो भी इस पृथ्वी पर दूसरी कोई जाति नहीं है, जिसका विश्व पर इतना ऋण है जितना कि इस सहिष्णु एवं सौम्य हिन्दू का ! "निरीह हिन्दू"—कभी-कभी ये शब्द तिरस्कार-स्वरूप प्रयुक्त होते हैं, किन्तु यदि कभी किसी तिरस्कार युक्त शब्द प्रयोग में भी कुछ सत्यांश रहना सम्भव हो तो वह इसी शब्द प्रयोग में है। यह "निरीह हिन्दू" सदैव ही जगत्पिता की प्रिय सन्तान रहा है।

प्राचीन एवं अर्वाचीन कालों में शक्तिशाली एवं महान् जातियों से महान् विचारों का प्रादुर्भाव हुआ है। समय-समय पर आश्चर्यजनक विचार एक जाति से दूसरी के पास पहुंचे हैं। राष्ट्रीय जीवन के उमड़ते हुए ज्वारों ने अतीत में और वर्तमानकाल में महासत्य और शक्ति के बीजों को दूर-दूर तक बिखेरा है। किन्तु मित्रों ! मेरे शब्दों पर ध्यान दो। सदैव यह विचार-संक्रमण रणभेरी के घोष के साथ युद्धरत सेनाओं के माध्यम से ही हुआ है। प्रत्येक विचार को पहले रक्त की बाढ़ में डूबना पड़ा। प्रत्येक विचार को लाखों मानवों की रक्त-धारा में तैरना पड़ा। शक्ति के प्रत्येक शब्द के पीछे असंख्य लोगों का हाहाकार, अनाथों की चीत्कार एवं विधवाओं का अजस्र अश्रुपात सदैव विद्यमान रहा। मुख्यतः इसी मार्ग से अन्य जातियों के विचार संसार में पहुंचे।

जब ग्रीस का अस्तित्व नहीं था, रोम भविष्य के अन्धकार गर्भ में छिपा हुआ था, जब आधुनिक योरपवासियों के पुरखे जंगलों में रहते थे और अपने शरीरों को नीले रंग से रंगा करते थे, उस समय भी भारत में कर्मचेतना का साम्राज्य था। उससे भी पूर्व, जिसका इतिहास के पास कोई लेखा नहीं, जिस सुदूर अतीत के गहन अन्धकार में झांकने का साहस परम्परागत किम्वदन्ती भी नहीं कर पाती, उस सुदूर अतीत से अब तक, भारतवर्ष से न जाने कितनी विचार-तरंगें निकली हैं किन्तु उनका

प्रत्येक शब्द अपने आगे शांति और पीछे आशीर्वाद लेकर गया है। संसार की सभी जातियों में केवल हम ही हैं जिन्होंने कभी दूसरों पर सैनिक-विजय प्राप्ति का पथ नहीं अपनाया और इसी कारण हम आशीर्वाद के पात्र हैं।

अमर भारत

एक समय था, जब ग्रीक-सेनाओं के सैनिक संचलन के पदाघात से धरती कांपा करती थी। किन्तु पृथ्वीतल पर से उसका अस्तित्व मिट गया। अब सुनाने के लिए उसकी एक गाथा भी शेष नहीं है। ग्रीकों का वह गौरव-सूर्य सदा-सर्वदा के लिए अस्त हो गया। एक समय था जब संसार की प्रत्येक उपभोग्य वस्तु पर रोम का श्येनांकित ध्वज उड़ा करता था। सर्वत्र रोम की प्रभुता का दबदबा था और वह मानवता के सर पर सवार थी। पृथ्वी रोम का नाम लेते ही कांप जाती थी परन्तु आज उसी रोम का कैपिटोलिन पर्वत खंडहरों का ढेर बना हुआ है, जहाँ पहले सीजर राज्य करते थे वहीं आज मकड़ियाँ जाला बुनती हैं।

इनके अतिरिक्त कई अन्य गौरवशाली जातियाँ आयीं और चली गयीं; कुछ घंटे उन्होंने बड़ी चमक-दमक के साथ गर्व से छाती फुलाकर अपना प्रभुत्व फैलाया, अपने कलुषित जातीय जीवन से दूसरों को आक्रान्त किया; पर शीघ्र ही पानी के बुलबुलों के समान मिट गयीं। मानव-जीवन पर ये जातियाँ केवल इतनी ही छाप डाल सकी।

किन्तु हम आज भी जीवित हैं और यदि आज भी हमारे पुराण–ऋषि मनु वापस लौट आयें तो उन्हें आश्चर्य न होगा; उन्हें ऐसा नहीं लगेगा कि वे किसी नये देश में गये। वे देखेंगे कि सहस्रों-सहस्रों वर्षों के अनुभव एवं चिन्तन से निष्पन्न वही प्राचीन विधान आज भी यहाँ विद्यमान हैं; अनन्त शताब्दियों के अनुभव एवं युगों की अभिज्ञता का परिपाक—वह सनातन आचार-विचार आज भी वर्तमान है, और इतना ही नहीं, जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, एक के बाद दूसरे दुर्भाग्य के थपेड़े उन पर आघात करते जाते हैं। पर उन सब आघातों का एक ही परिणाम हुआ है कि वह आचार दृढ़तर और स्थायी ही होते जाते हैं। किन्तु इन सब विधानों एवं आचारों का केन्द्र कहाँ है? किस हृदय में रक्त संचालित होकर उन्हें पुष्ट बना रहा है? हमारे राष्ट्रीय-जीवन का मूल स्रोत कहाँ है? इन प्रश्नों के उत्तर में सम्पूर्ण संसार के पर्यटन एवं अनुभव के पश्चात् मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि उसका केन्द्र हमारा धर्म है।

यही वह भारतवर्ष है जो अनेक शताब्दियों तक शत-शत विदेशी आक्रमणों के आघातों को झेल चुका है। यही वह देश है जो संसार की किसी भी चट्टान से अधिक दृढ़ता से अपने अक्षय पौरुष एवं अमर जीवन शक्ति के साथ खड़ा हुआ है। इसकी जीवन-शक्ति भी आत्मा के समान ही अनादि-अनन्त एवं अमर है और हमें ऐसे देश की सन्तान होने का गौरव प्राप्त है।

अतीत से वर्तमान की ओर

भारत के सामाजिक नियम सदैव युगानुसार परिवर्तनशील रहे हैं। उनका प्रारम्भिक उद्‌भव एक विशाल योजना के प्रतीकस्वरूप हुआ था और इस योजना को शनैःशनैः समय के साथ उद्‌घाटित होना था। प्राचीन भारत के महर्षियों की दृष्टि भावी के गर्त में इतनी दूर तक प्रवेश कर चुकी थी कि विश्व को उनके ज्ञान का उचित मूल्यांकन करने के लिये अभी शताब्दियों तक प्रतीक्षा करनी होगी। उनके वंशजों में उस आश्चर्यजनक योजना की पूर्ण सीमाओं को समझने की योग्यता का अभाव ही भारत के पतन का एकमेव कारण है। भारत का पतन इसलिये नहीं हुआ कि अतीत के नियम एवं आचार खराब थे, बल्कि इसलिये हुआ क्योंकि उन नियमों एवं आचारों को उनकी स्वभावसिद्ध दिशाओं में अग्रसर नहीं होने दिया गया।

वर्तमान भारत का चित्र

विशाल और गहरी, उमड़ती हुई और अधीर नदियाँ; उन नदी तटों पर स्वर्गिक नन्दनवन को लजानेवाले मनोरम उद्यान; उन उद्यानों के मध्य अपूर्व कारीगरी से युक्त कला-सज्जित संगमरमर के गगनचुम्बी प्रासाद; और उनके आगे-पीछे अगल-बगल झोपड़ियों के झुंड, उनकी मिट्टी की बढ़ती हुई दीवारें, उनकी जर्जर छतें जिनका बांसों का ढांचा नंगा हो चुका है; इधर-उधर घूमते हुए बच्चों और बूढ़ों की फटे-पुराने चिथड़ों से ढंकी कंकालवत् आकृतियाँ, जिनके चेहरों पर सैकड़ों वर्षों की गरीबी और निराशा की गहरी रेखायें अंकित हैं; हर जगह गाय, बैल और भैंसों के दर्शन और ओह! उनकी आंखों में भी वही उदासी की छाया और उनके भी वैसे ही कृश शरीर; रास्ते में जगह-जगह कूड़े और मैले के ढेर—यही है हमारा आज का भारत!

अट्टालिकाओं से सटी हुई जीर्ण-शीर्ण झोपड़ियाँ, मन्दिरों के द्वारों पर कूड़े के ढेर, रेशमी वस्त्रधारी के बगल में चलता हुआ कौपीनधारी संन्यासी, प्रचुर अन्न से तृप्त व्यक्तियों की ओर दृष्टि गड़ाये क्षुधाक्लान्त व्यक्ति की आभाहीन कातर दृष्टि—यही है हमारी जन्मभूमि।

विदेशी की दृष्टि में वर्तमान भारत

महामारी और हैजे का भीषण विनाश-नर्तन, जाति के मर्मस्थलों को चूसता हुआ मलेरिया, भुखमरी और आधा पेट भोजन मानों दूसरा स्वभाव, बीच-बीच में यमरूपी अकाल का ताण्डव-नृत्य, रोग-शोक का कुरुक्षेत्र, काल-कवलित आशा-उद्यम-आनन्द एवं साहस की मृत हड्डियों से छाया हुआ एक विशाल महाश्मशान, और इन सबके बीच अपूर्व शान्ति में निमग्न महाशक्ति के साक्षात्कार में लीन योगी, जिनके जीवन में मोक्ष के अतिरिक्त दूसरा लक्ष्य नहीं, यही चित्र है जो भारत में योरोपीय पर्यटक की आंखों को देख पड़ता है।

तीस कोटि आत्माओं का यह जमघट, जो केवल वाहरी आकृतिमें मनुष्य रह गये हैं, जो स्वदेशी-विदेशी जातियों, स्वधर्मी-विधर्मी लोगों के दमन-चक्र में पिसकर लगभग चेतनशून्य हो गये हैं, जो दासों के समान स्वयं प्ररणा से रहित कष्ट और श्रम के प्रति जड़वत् वन गये हैं, जिनके जीवन में कोई आशा शेष नहीं, जिनका न कोई अतीत है न कोई भविष्य, जो केवल अपने वर्तमान 'जीवन' को चाहे जितने कष्टों के बीच बनाये रखने के इच्छुक हैं; स्वबन्धुओं की उन्नति के प्रति असहिष्णु दासों के तुल्य ईर्ष्या से भरे; समस्त आशायें मर जाने के कारण श्रद्धाहीन, आस्थाहीन; शृंगालवत् चालाकी, विश्वासघात और धूर्तता ही जिनके स्वार्थरक्षण का एकमेव शस्त्र वन गया है, स्वार्थपरता के मूर्तिमन्त प्रतीक, शक्तिमानों के चरणों की धूलि चाटने वाले, किन्तु अपने से दुर्बलों के लिए यमस्वरूप, दुर्बल एवं भविष्य के प्रति निराश होने के कारण अनेक वीभत्स एवं क्षुद्र अन्धविश्वासों के आश्रयस्थल बने हुए; नैतिकता के किसी स्थिर मापदण्ड से रहित—ऐसी हैं ये तीस कोटि आत्मायें जो भारत माता के वक्षस्थल पर रेंग रही हैं—एक सड़ी-गली दुर्गन्धयुक्त लाश पर बिलबिलाते अगणित कीड़ों के समान—यही है हमारा चित्र जो आज एक अंग्रेज अधिकारी के सामने वरबस आकर खड़ा हो जाता है।

भारतीय दृष्टि में पश्चिम

नवार्जित शक्तियों की सुरा के मद में चूर, पाप-पुण्य के वोध से रहित, हिंस्र पशुओं के समान विकराल, नारी का गुलाम, कामुक, सुरा में डूबा, शुद्धतारहित, आचारहीन, केवल जड़जगत में आस्था से युक्त, जड़तत्व और उसके विभिन्न प्रयोगों पर आश्रित सभ्यता से सम्पन्न, अन्यों के देश एवं सम्पत्ति का बल, चालाकी एवं विश्वासघातपूर्वक शोषण कर अपनी 'अहंता' को प्रदर्शित करने के लिए लालायित, मरणोत्तर जीवन में आस्थारहित; शरीर से परे जिसके लिये कुछ नहीं; विषयोपभोग एवं शरीर-सुख में ही जिसका सम्पूर्ण जीवन है—यह है पश्चिमवासी, जो एक भारतीय की दृष्टि में राक्षस मात्र है।

केवल बाह्य दृष्टि पर आधारित चित्र

ये हैं दोनों पक्षों के द्वारा प्रस्तुत एक दूसरे के चित्र, जो विवेक बुद्धि से रहित उथली जानकारी अथवा अज्ञान पर आधारित हैं। जो विदेशी या योरोपीय भारत आते हैं व हमारे नगरों के बिलकुल स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकारक क्षेत्रों में शाही भवनों में रहते हैं और हमारे देहाती मुहल्लों की तुलना अपने देश के स्वच्छ एवं सुन्दर नगरों से करते हैं। जिन भारतीयों के साथ उनका सम्बन्ध आता है वे एक वर्ग-विशेष के होते हैं, जो उनकी आधीनता में कोई न कोई नौकरी करते हैं और सचमुच कहीं अन्यत्र इतना दुःख-दारिद्रय नहीं है जितना भारत में। इसमें भी कोई झूठ नहीं है कि कूड़ा-करकट हर जगह पड़ा ही रहता है। यह योरोपीय मस्तिष्क की समझ के बाहर है कि इस गन्दगी, गुलामी और इतने पतन के बीच भी किसी श्रेष्ठ वस्तु का अस्तित्व संभव है।

दूसरी ओर, हम देखते हैं कि योरोपवासी भक्ष्याभक्ष्य का विवेक किये बिना जो मिल जाता है खा लेते हैं, उनमें हमारे समान शुद्धता का विचार नहीं है, वे जाति-भेद को नहीं मानते, स्त्रियों से निर्लज्जतापूर्वक मिलते हैं और शराब पीकर औरतों को बगल में लेकर नाचते हैं। तब हम आश्चर्य में पड़कर स्वयं से पूछते हैं, "हे भगवान् ! क्या ऐसी जाति में भी कोई अच्छाई होना सम्भव है ?"

ये दोनों ही मत बाह्य दृष्टि पर आधारित हैं। उन्होंने सतह के अन्दर झांका ही नहीं है। हम विदेशियों को अपने समाज में घुलने-मिलने नहीं देते, उन्हें 'म्लेच्छ' कहते हैं। वे भी हमें गुलाम मानकर हम से घृणा करते हैं और हमें "काला आदमी" कहकर पुकारते हैं। इन दोनों मतों में कुछ सत्यांश अवश्य है किन्तु दोनों ने ही एक-दूसरे के अन्तर्जगत् की वास्तविकता का दर्शन नहीं किया है।

प्रत्येक जीवित राष्ट्र—किसी भाव का आश्रयस्थल

प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर एक भाव विद्यमान रहता है, बाह्य मनुष्य उसकी केवल अभिव्यक्ति मात्र है, उस आन्तरिक भाव की भाषामात्र है। इसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र का भी एक राष्ट्रीय-भाव होता है। यह भाव विश्व के लिए कार्य करता है और उसकी धारणा के लिए आवश्यक है। जिस दिन विश्व की धारणा के लिए उस भाव की तत्वरूप में आवश्यकता समाप्त हो जाती है, उसी दिन उस भाव के आश्रय, चाहे वह व्यक्ति हो या राष्ट्र—का विनाश हो जायेगा। हम भारतवासी इतनी आपत्तियों, दुःखदारिद्र्य एवं अन्तर्बाह्य अत्याचारों को लेकर भी अब तक जीवित हैं, यही प्रमाण है कि हमारा कोई राष्ट्रीय भाव है, जिसकी विश्व की धारणा के लिए आवश्यकता है।

इसे अच्छी प्रकार समझ लो कि भारत अब भी जीवित है क्योंकि विश्व-सभ्यता के भण्डार में उसका योगदान अभी पूर्ण नहीं हुआ है।

पहले हम यह भी समझ लें कि ऐसा कोई अच्छा गुण नहीं है कि जिस पर किसी एक जाति का एकाधिकार हो। निस्सन्देह व्यक्तियों के समान राष्ट्रों में भी किसी एक राष्ट्र में अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा कुछ गुणों का प्राधान्य हो सकता है।

धर्म और मोक्ष

हमारा मुख्य भाव मुक्ति की कामना है। पाश्चात्यों का मुख्य भाव धर्म है। हम मुक्ति चाहते हैं वे धर्म चाहते हैं। यहाँ 'धर्म' शब्द का व्यवहार मीमांसकों के (पुरुषार्थ वाचक—'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष') अर्थ में हुआ है। धर्म क्या है? धर्म वही है जो इहलोक और परलोक में सुख-भोग की प्रवृत्ति दे। धर्म क्रियामूलक होता है। वह मनुष्य को सुख के पीछे दौड़ाता है और कार्य करने की प्रेरणा देता है।

मुक्ति क्या है? मोक्ष वह है जो यह सिखाता है कि इहलोक और परलोक दोनों का सुख गुलामी है क्योंकि इस प्रकृति के नियमों से परे न इहलोक हैं और न परलोक। इहलोक की दासता का परलोक की दासता से केवल इतना अन्तर है जितना लोहे की जंजीर का सोने की जंजीर से। दूसरी बात यह है कि सुख चाहे जिस लोक में हो प्रकृति के नियमों से बंधा होने के कारण नाशवान है, वह अन्त तक स्थिर नहीं रहेगा। अतः मनुष्य को मुक्त होने की आकांक्षा रखनी चाहिए, उसे शरीर के बन्धनों के परे जाना चाहिये। दासत्व में रहने से काम नहीं चलेगा। यह मोक्षमार्ग केवल भारतवर्ष में है, अन्यत्र नहीं।

भारतवर्ष में एक समय ऐसा भी था, जब यहां धर्म और मोक्ष का सामञ्जस्य था, उस समय यहां मोक्ष की आकांक्षा रखनेवाले व्यास, शुकदेव एवं जनक आदि के साथ-साथ युधिष्ठिर, अर्जुन, दुर्योधन, भीष्म एवं कर्ण आदि धर्म के उपासक भी विद्यमान थे। बौद्ध मत के उदय के पश्चात् धर्म की पूर्ण उपेक्षा की गयी और मोक्ष मार्ग ही प्रधान बन गया।

हिन्दू शास्त्र एवं बौद्ध मत

बौद्धों ने घोषणा की, "संसार में मोक्ष के समान और है ही क्या? अतः तुम जो भी हो, सब इसे पाने का प्रयत्न करो।" मैं पूछता हूँ "क्या यह कभी सम्भव है?" हिन्दू शास्त्रों का स्पष्ट निर्देश है, "तुम गृहस्थ हो, तुम्हारे लिये ये सब बातें आवश्यक नहीं हैं। तुम अपने 'स्वधर्म' का पालन करो।" यही बात ठीक है। जो एक पग नहीं कूद सकता उससे एक ही छलांग में समुद्र पार कर लंका पहुँच जाने की आशा रखना कहाँ तक उचित है? क्या यह युक्तिसंगत है? तुम अपने परिवार का तो पेट भर नहीं सकते, दो स्व-बन्धुओं को भोजन देने की तुममें क्षमता नहीं, अन्य लोगों के साथ मिलकर तुम लोककल्याण का एक छोटा सा कार्य भी नहीं कर पाते—और तब भी तुम मुक्ति के पीछे दौड़ रहे हो। हिन्दू शास्त्रों का कथन है "निस्संदेह मुक्ति

धर्म से कहीं अधिक श्रेष्ठ है, किन्तु पहले धर्म का पूर्ण पालन कर लो।" वौद्धों ने इसी स्थल पर भ्रम में पड़कर अनेक उत्पात खड़े कर दिये।

अहिंसा ठीक है; "बुराई का प्रतिरोध मत करो" यह भी वड़ी वात है। ये सव सचमुच ऊंचे सिद्धांत हैं। किन्तु शास्त्रों का आदेश है, "तुम गृहस्थ हो। यदि कोई तुम्हारे गाल पर एक थप्पड़ मारे और तुम उसका जवाव दस थप्पड़ों से न दो तो तुम पाप करते हो।" मनु की व्यवस्था है—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥

(मनुस्मृति, अ० ८, श्लोक ३५०)

"यदि कोई तुम्हें मारने के लिये आता है तो उसकी हत्या करने में तनिक भी पाप नहीं है, चाहे वह ब्राह्मण ही क्यों न हो" यह एक महा-सत्य है और इसे कभी नहीं भूलना चाहिये।

स्वधर्म पालन ही परम सत्य

"वीर भोग्या वसुन्धरा"। अतः शौर्य को प्रकट करो। अपने शत्रु को जीतने और संसार का सुख भोगने के लिये साम, दाम, दंड और भेद की चतुर्विध राजनीति को परिस्थितियों का आवश्यकता के अनुसार अपनाओ। तभी तुम धार्मिक होओगे। यदि तुम उपकारों को चुपचाप सहकर किसी की भा ठोकरें खाकर और अत्याचारों को पीकर लज्जाजनक जीवन विताओगे तो तुम्हारा इहलोक का जीवन तो नरक तुल्य होगा ही, परलोक में भी तुम्हें वही मिलेगा। शास्त्रों का यही मत है। अतः स्वधर्म पालन करो, यही केवल सत्य है। यही चरम सत्य है। मेरे प्रिय स्वधर्मियो! यही तुम्हारे लिये मेरा उपदेश है। निस्संदेह, अन्याय मत करो, पर-पीड़न मत करो, यथा-शक्ति परोपकार भी करो। किन्तु गृहस्थ के लिये दूसरों के अन्यायों को चुपचाप सह लेना घोर पाप है। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' ही उसका स्वधर्म है। गृहस्थ को परिश्रम एवं उत्साहपूर्वक धनोपार्जन करना चाहिये। उसके द्वारा अपने परिवार एवं अन्यों का सुखपूर्वक पोषण करना चाहिये, यथाशक्ति लोक कल्याणार्थ शुभ कर्म भी करना चाहिये। यदि तुम यह सब नहीं कर सकते तो तुम मनुष्य कहलाने का दावा ही कैसे कर सकते हो? तव तुम्हारे लिये मोक्ष की वात करना तो दूर, तुम सच्चे गृहस्थ भी नहीं रह सकते।

भिन्न स्वभाव : भिन्न पथ

अब प्रश्न यह उठता है कि हम कव किस शुभ पथ का अनुगमन करें? मुक्ति की अभिलाषा करने वालों का 'शुभ' एक है तो 'धर्म' के आकांक्षियों का 'शुभ' दूसरा

यही परम सत्य कि जिसको गीता के उपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण ने वहाँ स्पष्ट करने का यत्न किया है। इसी सत्य पर हिन्दू धर्म का 'स्वधर्म पालन' का सिद्धान्त एवं वर्णाश्रम व्यवस्था अधिष्ठित है।

कृष्ण ने कहा,

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहकारः समदुःख सुखःक्षमी ॥ (गीता, १२-१३)

"जिसका कोई शत्रु नहीं, जो सबके प्रति मैत्री एवं करुणाभाव से परिपूर्ण है, 'मैं और मेरा' की भावना से जो मुक्त है, दुःख और सुख दोनों में समभाव से युक्त क्षमावान् है।"

यह और ऐसे ही अनेक वाक्य वस्तुतः मुमुक्षुओं के लिये कहे गये हैं।

किन्तु अन्यत्र उन्होंने कहा,

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ (गीता २, ३)

'हे पार्थ! क्लीवता को प्राप्त मत हो, यह तेरे लिये योग्य नहीं, हे शत्रुतापक! हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को त्याग कर उठ खड़ा हो।"

तस्मात्वमुत्तिष्ठ यशोलभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहतः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ (गीता, ११, ३३)

"अतः उठ खड़ा हो और यश लाभ कर। अपने शत्रुओं को जीत कर समृद्ध राज्य का उपभोग कर। हे सव्यसाची अर्जुन! ये सब मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं, तू निमित्त मात्र बन जा।"

सात्विक शान्ति एवं तामसिक निष्क्रियता में अन्तर

अब मुझे बताओ, बाहर से देखकर हम यह कैसे जानें कि जिस अवस्था में हम हो उसमें सतोगुण की प्रधानता है अथवा तमोगुण की? "क्या हम समस्त सुख-दुःख से परे, क्रियातीत सात्विक शान्ति की स्थिति में पहुँच गये हैं अथवा मृतक के समान निस्पन्द, प्राणहीन, जड़वत् तथा कर्म शक्ति के अभाव में निष्क्रियता की महातामसी स्थिति में भटक रहे हैं तथा धीरे-धीरे चुपचाप अन्दर-अन्दर सड़ते जा रहे हैं?"—मैं गम्भीरतापूर्वक तुमसे यह प्रश्न पूछता हूँ। मुझे इसका उत्तर चाहिए। जरा अपने मन से पूछो तो; तुम्हें सत्य का पता चल जायगा।

सात्विक शान्ति में महाशक्ति का भंडार

किन्तु, इसका उत्तर पाने के लिये प्रतीक्षा ही क्यों करें ? फल से वृक्ष की पहचान हो जाती है। सत्य की प्रधानता के समय मनुष्य निष्क्रिय एवं शान्त तो दीखता है किन्तु यह निष्क्रियता महान् शक्तियों के पूंजीभूत होने का परिणाम होती है, यह शान्ति, प्रचण्ड पौरुष की जननी है। उस परम सात्विक पुरुष को, उस महात्मा को हमारे समान हाथ-पैरों से कर्म करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, उसकी तो इच्छा मात्र से ही सब काम अविलम्ब पूर्ण हो जाते हैं। वह सत्वगुण प्रधान पुरुष ही ब्राह्मण है, सबका पूज्य है। 'मेरी पूजा करो' ऐसा कहते हुए उसे द्वार-द्वार पर घूमना नहीं पड़ता। जगदम्बा स्वयं अपने हाथों उसके ललाट पर स्वर्णाक्षरों में लिख देती है, "इस महापुरुष की, मेरे पुत्र की सब कोई वन्दना करो।" संसार इसे पढ़ता है, सुनता है और श्रद्धा से अपना मस्तक उसके सामने नत कर देता है। ऐसा पुरुष ही वास्तव में

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ (गीता, १२, १३)

"जिसका कोई शत्रु नहीं, जो सबके प्रति मैत्री एवं करुणा से परिपूर्ण है, "मैं और मेरा" की भावना से जो मुक्त है, दुःख-सुख दोनों में समभाव से युक्त है तथा क्षमावान है"—ऐसा कहलाता है।

तामसिक अकर्मण्यता—मृत्यु का लक्षण

और ध्यान दो, ये लक्षण जो तुम्हें क्षुद्र हृदय एवं नपुंसक लोगों में दीख पड़ते हैं, जो नाक से मिमियांकर एक-एक शब्द को चबाते हुए बोलते हैं, जिनकी आवाज इतनी निर्जीव है मानो सात दिन के भूखे हों, जो फटे-पुराने चिथड़ों की भाँति हैं, जो दूसरों की ठोकरें खाकर भी विरोध नहीं करते अथवा कर्मशील नहीं होते—ये लक्षण निम्नतम तमोगुण के हैं। ये मृत्यु के लक्षण हैं, सत्व गुण के नहीं। यह भ्रष्टता है, दुर्गन्ध है।

अर्जुन भी इसी अवस्था को प्राप्त हो रहे थे, तभी तो भगवान् ने उन्हें इतने विस्तारपूर्वक गीता का उपदेश दिया। क्या यह सत्य नहीं है ? सुनो, भगवान् के श्रीमुख से प्रथम शब्द क्या निकले—

"क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते"

"कायरता को प्राप्त मत हो। हे पार्थ ! यह तेरे लिए योग्य नहीं है।" और तब बाद में उन्होंने कहा " तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व" "अतः तू उठ और यश का अर्जन कर"

पिछले सहस्र वर्षों से सम्पूर्ण देश के वायुमंडल में कृष्ण का नाम गूंज रहा है और सब ओर उनकी पूजा-प्रार्थना हो रही है, किन्तु भगवान हमारी प्रार्थना की ओर मानों

कान ही नहीं देता। और वह दे भी क्यों ? जब मनुष्य भी मूर्खों की पुकार कभी नहीं सुनना चाहता, तब क्या भला भगवान सुनेगा ? अब एक ही मार्ग शेष है कि हम भगवान् के गीतोक्त वचनों को सुनें—

"क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ"

"हे पार्थ ! कायरता को प्राप्त मत हो", एवं

"तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व"

अतः उठ और यश लाभ कर।"

विधि की विडम्बना

विधि की विडम्बना देखो। योरोपवासियों के देवता ईसामसीह ने सिखाया : "किसी से बैर मत करो, जो तुम्हें गाली दे उन्हें भी आशीर्वाद दो, यदि कोई तुम्हारे बायें गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम उसकी ओर दाहिना गाल भी कर दो, सब काम-काजों को त्याग कर परलोककी तैयारी करो क्योंकि संसार का अन्त निकट है।" इसके विपरीत हमारे भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं, "सदैव महान् उत्साह से कर्म करो, अपने शत्रुओं का विनाश कर संसार का भोग करो।" किन्तु अन्त में जो कुछ कृष्ण या ईसामसीह चाहते थे, उसका बिलकुल उल्टा हो गया।

योरोपवासियों ने कभी ईसामसीह के शब्दों को गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया। सदैव कार्यशील स्वभाव अपनाकर अत्यन्त प्रचण्ड रजोगुण से सम्पन्न होकर वे बड़े उत्साह और युवकोचित उत्सुकता के साथ विश्व के विभिन्न देशों के सुख और विलासों को बटोर रहे हैं और मन भर कर उन्हें भोग रहे हैं।

और हम! हम एक कोने में बैठे, अपने सब साज-सामान के साथ, दिन-रात मृत्यु का ही आवाहन कर रहे हैं और गा रहे हैं—

नलिनीदलगतजलमतितरलं
तद्वज्जीवनमतिशयचपलम्।

अर्थात, कमलपत्र पर पड़ी हुई जल की बूंदे जितनी चंचल और अस्थिर हैं उतना ही यह मानव-जीवन क्षीण और चलायमान हैं।" इस सबका परिणाम हुआ हैं कि मृत्युराज यम के भय से हमारी धमनियों का रक्त ठंडा पड़ जाता है तथा संपूर्ण शरीर कांपने लगता है। और ओफ ! यम ने भी हमारे शब्दों को सच मान लिया है और शायद इसीलिये महामारी आदि संसार भर के रोग हमारे देश में भेज दिये हैं।

अब कहो ! गीता के उपदेश को किसने सुना ? योरोपियनों ने। और ईसा की इच्छानुसार कौन आचरण कर रहे हैं ? भगवान् कृष्ण के वंशज ! इसे अच्छी प्रकार समझ लो।

बौद्धमत और वैदिक धर्म का उद्देश्य एक ही है, किन्तु बौद्धों द्वारा अपनाये गये साधन सही नहीं हैं। यदि बौद्ध साधन ठीक होते तो हमारा इतनी बुरी तरह सर्वनाश ही क्यों हो पाता ? यह कहने से काम नहीं चलेगा कि काल के प्रवाह के स्वाभाविक थपेड़ों से यह सब हो गया। क्या काल कार्य-कारण नियम का भी उल्लंघन कर सकता है ?

यूरोप ने ईसा से मुक्ति पायी

केवल वैदिक धर्म में मनुष्य के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के उपायों और साधनोंका सम्यक् विचार एवं व्यवस्था की गयी है। बौद्धोंने हमें कमजोर बनाया उसी प्रकार ईसा ने ग्रीस और रोम को चौपट किया। किन्तु, सौभाग्य से कुछ ही समय पश्चात् योरोपवासी प्रोटेस्टेन्ट हो गये। उन्होंने ईसा के उन उपदेशों का, जिनका प्रतिनिधित्व पोप की सत्ता द्वारा होता था, परित्याग कर दिया और संतोष की सांस ली। भारत में कुमारिल ने फिर कर्म-मार्ग को चलाया। शंकर और रामानुज ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का सामञ्जस्य एवं समन्वय करते हुये सनातन वैदिक धर्म का पुनः दृढ़ता के साथ प्रवर्तन किया। इस प्रकार राष्ट्र के जीवन में पुनर्सञ्चार का प्रयास हुआ। किन्तु भारत में तीस कोटि आत्माओं को जगाना था, अतः देर लगी। क्या तीस करोड लोगों का पुनर्जागरण एक दिन में संभव था ?

—:o:—

भारत की आत्मा–धर्म

प्रत्येक राष्ट्र का लक्ष्य विधाता के द्वारा पूर्व निर्धारित है। प्रत्येक राष्ट्र के पास संसार को देने के लिए कोई न कोई संदेश है। प्रत्येक राष्ट्र को किसी विशेष संकल्प की पूर्ति करनी है। अतः प्रारम्भ में ही हमें अपनी जाति के जीवन-लक्ष्य को समझ लेना होगा। उसे कौन-सा दैवी लक्ष्य पूर्ण करना है, विभिन्न राष्ट्रों के अभियान में उसे कहां और कौन सा स्थान ग्रहण करना है, जातियों के सम्मिलित संगीत में उसे कौन सा स्वर मिलाना है ?

हम हिन्दू हैं

हम लोग हिन्दू हैं। मैं 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग किसी बुरे अर्थ में नहीं कर रहा हूं और न मैं उन लोगों से सहमत हूँ जो समझते हैं कि इस शब्द के कोई बुरे अर्थ हैं। प्राचीन काल में इस शब्द का अर्थ केवल इतना था—"सिन्धु तट के इस ओर बसने वाले लोग।" आज भले ही हमसे घृणा रखने वाले अनेक लोग इस शब्द पर कुत्सित अर्थ आरोपित करना चाहते हों, पर केवल नाम में क्या धरा है ? यह तो हम पर निर्भर करता है कि 'हिन्दू' नाम ऐसी प्रत्येक वस्तु का द्योतक हो जो महिमामय है, अध्यात्मिक है अथवा वह केवल कलंकित, पददलित, निकम्मी और धर्म-भ्रष्ट जाति का प्रतीक है। यदि आज 'हिन्दू' शब्द का कोई बुरा अर्थ लगाया जाता है, तो उसकी परवाह मत करो। आओ ! हम सब अपने आचरण से संसार को यह दिखा दें कि संसार की कोई भी भाषा इससे महान् शब्द का आविष्कार नहीं कर पायी है।

मेरे जीवन का यह सिद्धांत रहा है कि मुझे अपने पूर्वजों को अपनाने में कभी लज्जा नहीं आयी। मैं सबसे गर्वीले मनुष्यों में से एक हूँ। किन्तु मैं तुम्हें स्पष्ट रूप में बता दूं यह गर्व मुझे अपने कारण नहीं अपितु अपने पूर्वजों के कारण है। अतीत का मैंने जितना ही अध्ययन किया है, जितनी ही मैंने भूत काल पर दृष्टि डाली है, यह गर्व मुझमें उतना ही बढ़ता गया है। उसने मुझे साहस पूर्ण निष्ठा और शक्ति प्रदान की है। उसने मुझे धरती की धूल से उठाकर ऊपर खड़ा कर दिया और अपने महान् पूर्वजों के द्वारा निर्धारित उस महायोजना को पूर्ण करने में जुटा

दिया। उन प्राचीन आर्यों की संतानो ! भगवत्कृपा से तुम भी उस गर्व से परिपूर्ण हो जाओ। तुम्हारे रक्त में भी अपने पूर्वजों के लिये उसी श्रद्धा का संचार हो जाय ! यह तुम्हारे रग-रग में व्याप्त हो जाये और तुम संसार के उद्धार के लिये सचेष्ट हो जाओ।

प्रत्येक राष्ट्र का एक दैवी लक्ष्य

जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है, उसी प्रकार राष्ट्रीय व्यक्तित्व भी होता है। जैसे एक व्यक्ति कुछ विशिष्ट बातों में, कुछ विशिष्ट लक्षणों में अन्य व्यक्तियों से भिन्न होता है, उसी प्रकार एक जाति अपनी कुछ विशिष्टताओंके कारण अन्य जातियों से भिन्न होती है और जिस प्रकार प्रकृति की योजना में किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति करना ही प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य होता है, जिस प्रकार उसके अपने पिछले कर्मों द्वारा उसकी भावी दिशा निर्धारित हो जाती है, ठीक ऐसा ही राष्ट्रों के साथ होता है। प्रत्येक राष्ट्र को एक पूर्व-निर्धारित लक्ष्य को पूर्ण करना है। प्रत्येक राष्ट्र को एक विशेष संदेश देना है। प्रत्येक राष्ट्र को किसी व्रत-विशेष का उद्यापन कराना है। अतः प्रारम्भ से ही हमें अपनी जाति के व्रत को, उसके पूर्व निर्धारित लक्ष्य को समझ लेना होगा। उसे राष्ट्रों की पंक्ति में कौन सा स्थान ग्रहण करना है ? विभिन्न जातियों के सम्मिलित संगीत में कौन सा स्वर मिलाना है।

राष्ट्रीय आत्मा

अपने देश में बचपन में हम किस्से सुना करते थे कि कुछ सर्पों के फन में मणि होती है। और जब तक मणि वहाँ है उसे किसी भी उपाय से नहीं मारा जा सकता। हमने कहानियों में ऐसे दैत्यों-दानवों के बारे में भी सुना है जिनके प्राण किन्हीं छोटी-छोटी चिड़ियों में बसे होते हैं। और जब तक वे चिड़ियां सुरक्षित हैं संसार की कोई भी शक्ति उन दैत्यों का संहार नहीं कर सकती—चाहे तुम उनके टुकड़े-टुकड़े ही क्यों न कर डालो, या कुछ भी करो वे दैत्य नहीं मर सकते। यही बात राष्ट्रों के बारे में भी सत्य है। प्रत्येक राष्ट्र के प्राण भी किसी बिन्दु विशेष में केंद्रित रहते हैं। वहीं उस राष्ट्र का राष्ट्रीयत्व बसता है और जब तक उस मर्म-स्थान पर आघात नहीं होता तब तक वह राष्ट्र नहीं मर सकता।

इसके अतिरिक्त एक अन्य बात भी आप देखेंगे कि यदि किसी राष्ट्र के केवल ऐसे अधिकारों का अपहरण किया जाय, जिनका उसके राष्ट्रीय-उद्देश्य से गहरा सम्बन्ध नहीं है, यदि ऐसे सब अधिकार भी छीन लिये जांय तो भी उस राष्ट्र को बहुत अधिक असन्तोष न होगा। किन्तु जब उस मूलभूत उद्देश्य पर, जिस पर राष्ट्रीय

जीवन का सम्पूर्ण महल टिका है, छोटा आघात भी होगा तो वह राष्ट्र प्रचण्ड शक्ति से उसका प्रतिरोध करेगा।

फ्रांसीसी और अंग्रेज चारित्र्य

उदाहरणार्थ, उन तीन वर्तमान जातियों की तुलना कीजिए, जिनका थोड़ा बहुत इतिहास आप जानते हैं। ये राष्ट्र हैं फ्रांसीसी, अंग्रेज एवं हिन्दू। फ्रांस के राष्ट्रीय चरित्र का मेरुदण्ड राजनीतिक-अधिकार-स्वातन्त्र्य है। वहाँ की प्रजा सभी अत्याचारों को शान्त भाव से सहन करती है। उसे करों के भार से पीस डालिये, तो भी वह चूं तक नहीं करेगी। सम्पूर्ण राष्ट्र को सेना में भरती होने के लिये बाध्य कर दीजिये तो भी वे शिकायत नहीं करेंगे। किन्तु जिस क्षण कोई उसके राजनीतिक अधिकार-स्वातन्त्र्यके ऊपरे हाथ डालेगा, तब सम्पूर्ण राष्ट्र एक होकर खड़ा हो जायेगा और पगालों की भाँति उसका प्रतिकार करेगा। फ्रांसीसी चारित्र्यका मूल-सिद्धान्त है,"कोई व्यक्ति हमारे ऊपर बलपूर्वक शासन नहीं कर सकता—गरीब-अमीर, विद्वान-अपढ़, उच्च कुल अथवा निम्न वर्ग—सभी का हमारे देश की सरकार तथा हमारे समाजके स्वतन्त्र नियंत्रण में समान अधिकार है।जो हमारे इस अधिकार-स्वातन्त्र्यमें हस्तक्षेप करना चाहेगा, उसे उसका दण्ड भोगना होगा।

अंग्रेजों के चारित्र्य में आदान-प्रदान पर आधारित व्यवसाय बुद्धि की प्रधानता है। अंग्रेजके लिये सबसे आवश्यक वस्तु है—समान भाव एवं सुविधाओं तथा अधिकारों का समान वितरण। अंग्रेज लोग राजा की महत्ता तथा सामन्त-वर्गके विशेषाधिकारों को नतमस्तक होकर स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु यदि उसे अपनी गांठ से एक छोटा सिक्का भी देना पड़ जाय तो वह पहले उसका हिसाब मांगता है। राजा है तो अच्छी बात, उसका वे लोग आदर करेंगे और उसकी आज्ञाओंका पालन करने को भी तत्पर रहेंगे, किन्तु यदि राजा भी पैसा मांगे तो अंग्रेज कहेगा "ठीक है, किन्तु पहले यह समझाओ कि पैसा क्यों चाहिये, इससे क्या भला होने वाला है ? फिर, मुझे 'उसको कैसे खर्च किया जाय' इस बारे में मत व्यक्त करने का अधिकार दो तब कहीं मैं पैसा दूंगा।" एक बार एक अंग्रेज राजा ने अंग्रेज जातिसे बलपूर्वक धन वसूलने के प्रयास में ही अपने विरुद्ध महान् क्रान्ति को आमंत्रित कर लिया था। उन्होंने उस राजा को मार डाला।

हिंदू चारित्र्य

हिन्दू कहते हैं कि राजनैतिक और सामाजिक अधिकार-स्वातन्त्र्य बहुत अच्छी वस्तु है परन्तु वास्तविक वस्तु है व्यक्ति को मुक्तिमार्ग पर बढ़नेके लिये पूर्ण अध्यात्मिक स्वतन्त्रता। यही है हमारा राष्ट्रीय उद्देश्य—तुम चाहे वैदिक, जैन या बौद्ध, चाहे अद्वैत, विशिष्टाद्वैत अथवा द्वैत—किसी भी 'मत' को टटोल लो, ये सभी इस उद्देश्य पर एक हैं। इसको न छुओ और चाहे जो करो, हिन्दू तनिक भी ध्यान नहीं देगा और चुप रहेगा।

किन्तु यदि कहीं तुमने इस मर्मस्थल को छेड़ दिया, तो सावधान ! तुम सर्वनाशको निमन्त्रण दे दोगो । उसका सर्वस्व छीन लो, उसे ठोकर मारो, उसे चाहे काला आदमी कहो चाहे और कोई गन्दा नाम दो, वह तनिक भी परवाह नही करेगा, पर केवल उसके धर्मके द्वार को खुला और अक्षुण्ण छोड़ दो । यहीं देखो, आधुनिक कालमें कितने पठान वंश आये और चले गये, किन्तु वे भारतमें अपने साम्राज्य की जड़ें नहीं जमा सके क्योंकि वे लगातार हिन्दुओंके धर्म पर आघात करते रहे । किन्तु उसके विपरीत मुगल साम्राज्य कितना सुदृढ़ और प्रचण्ड सामर्थ्यसम्पन्न बन सका । क्यों ? क्योंकि मुगलों ने उस मर्मस्थल को नहीं छेड़ा । वास्तवमें हिन्दू ही मुगल साम्राज्य के मुख्य स्तम्भ बन गये ।

हमने देखा है कि हमारा धर्म ही हमारे तेज, हमारे बल, इतना ही नहीं तो हमारे राष्ट्रीय-जीवन का भी मूलाधार है । इस समय मैं इस तर्क-वितर्क में नहीं पड़ना चाहता कि धर्म में यह केन्द्रीयकरण उचित है या नहीं, सही, है या गलत, अथवा कालान्तर में लाभप्रद है या नहीं । किन्तु अच्छा हो या बुरा, यही वस्तुस्थिति है । अब तुम इससे पीछा नहीं छुड़ा सकते । सदा-सर्वदा के लिये तुम इससे बंध चुके हो और तुम्हें इसके सहारे ही खड़ा रहना होगा, भले ही धर्म में तुम्हारी मेरे जितनी निष्ठा न हो । तुम इसी धर्म से बंधे हुए हो और यदि तुम इसे छोड़ दोगे तो तुम चूर-चूर हो जाओगे । यही हमारी जाति का प्राण है और तुम्हें उसे ही पुष्ट करना होगा ।

सोमनाथ से शिक्षा लो

तुम जो युगों तक धक्के सहकर भी अक्षय हो, इसका कारण केवल यही है कि धर्म के लिये तुमने बहुत कुछ प्रयत्न किया था, उसके लिये अन्य सब कुछ निछावर कर दिया था । तुम्हारे पूर्वजों ने धर्म-रक्षा के लिये सब कुछ साहसपूर्वक सहन किया था, यहाँ तक कि मृत्यु को भी गले लगाया था। विदेशी विजेताओं ने मन्दिर के बाद मन्दिर तोड़े, किन्तु जैसे ही वह आंधी गुजरी, मन्दिर का शिखर पुनः खड़ा हो गया । दक्षिण भारत के ऐसे कुछ प्राचीन मन्दिर विशेष कर गुजरात का सोमनाथ मन्दिर तुम्हें अक्षय ज्ञान प्रदान करेंगे । जाति के इतिहासके प्रति जिस गहरी दृष्टि को वे प्रदान करते हैं, वह ढेरों पुस्तकों से नहीं मिल सकती । ध्यान से देखो—इन मन्दिरों पर सैकड़ों आक्रमणों एवं सैकड़ों पुनरुत्थानों के चिह्न किस तरह अंकित हैं ? वे बार-बार नष्ट हुए और खंडहरों में से पुनः पुनः उठ खड़े हुऐ—पहले की ही भांति सशक्त एवं नवजीवनयुक्त । यही है हमारा राष्ट्रीय मानस, यही है हमारा राष्ट्रीय जीवन-प्रवाह । इसका अनुसरण करो और गौरव प्राप्त करो । इसे त्याग दोगे तो मृत्यु निश्चित है । जिस क्षण तुम इस जीवन-प्रवाह से बाहर कदम उठाओगे मृत्यु एवं पूर्ण-विनाश ही अवश्यम्भावी परिणाम होगा । मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि अन्य बातें पूर्णतया अनावश्यक हैं । मेरा य ह भी कहना नहीं है कि राजनीतिक अथवा सामा-

जिक सुधारों की कोई आवश्यकता ही नहीं है। मेरा तात्पर्य केवल इतना है—और मैं इसे तुम्हारे मस्तिष्क पर स्थायी रूप से अंकित कर देना चाहता हूँ कि यहां धर्म ही मुख्य आवश्यकता है, अन्य सब चीजें गौण हैं।

सहस्रों शताब्दियों में विकसित चारित्र्य

अब तुम स्पष्टतया समझ गये होगे कि इस राष्ट्र का प्राण कहां है। वह धर्म में है। कोई उसको नष्ट नहीं कर पाया, इसीलिये हिन्दू जाति इतनी आपत्ति-विपत्तियों को सह कर भी आज जीवित है। एक भारतीय विद्वान ने पूछा,—"राष्ट्र के प्राणों को धर्म में बनाये रखने की ही क्या आवश्यकता है ? क्यों न अन्य राष्ट्रों के समान अपने राष्ट्र के प्राणों को भी राजनीतिक या सामाजिक स्वाधीनता में रखा जाय ?" यह बात कहने में ही सरल है।

यदि केवल तर्क के लिये ही यह मान लें कि धर्म और अध्यात्मिक स्वाधीनता, आत्मा, परमात्मा और मुक्ति आदि सब मिथ्या बातें हैं, तो क्या होगा, इस पर विचार कीजिये। जिस प्रकार एक अग्नि स्वयं को अनेक रूपों में प्रकाशित करती है; उसी प्रकार एक महाशक्ति फ्रांसीसियों में राजनीतिक अधिकार-स्वातन्त्र्य का रूप लेकर, अंग्रेजों में वाणिज्य बुद्धि एवं समभाव के विस्तार के रूप में तथा हिन्दुओं में अध्यात्मिक स्वाधीनता अथवा मुक्ति का रूप लेकर स्वयं को प्रकाशित कर रही है। और ध्यान दो ; उस महाशक्ति की प्रेरणा से ही कई शताब्दियों में अनेक प्रकार के सुख-दुःखों से गुजर कर फ्रांसीसी और अंग्रेज जाति का चरित्र गठन हुआ है और उसी की प्रेरणा से सहस्रों शताब्दियों के आवर्तन में हिन्दुओं के जातीय-चरित्र का विकास हुआ है मैं गम्भीरतापूर्वक पूछता हूँ,—"कौन सा मार्ग सरल है ? लाखों वर्षों में विकसित राष्ट्रीय-चरित्र का परित्याग अथवा सौ-पचास वर्षों में अपनाये हुये विदेशी आदतों को त्याग देना ? क्यों नहीं अँग्रेज अपने युद्धलोलुप स्वभाव को त्याग कर मार-काट बन्द कर देने और धर्म को अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य बनाने में सम्पूर्ण शक्तियां लगाकर ध्यानावस्थित हो जाते ?

सच बात यह है कि जो नदी पर्वतों में अपने उद्गम स्थान से उतर कर सहस्रों कोस आगे चली आयी हो; क्या वह फिर अपने मूल स्रोत पर वापस जा सकेगी अथवा जा सकती है ? यदि वह अपना प्रवाह उलटने का प्रयास करे तो परिणाम यही होगा कि उसका जल इधर-उधर बिखर कर सूख जायगा। चाहे जैसे हो, नदी का देर-सवेर समुद्र में गिरना अनिवार्य है चाहे उसे खुले और रमणीय मैदानों से गुजरना पड़े चाहे गन्दी और कठोर भूमि में से मार्ग निकालने के लिए संघर्ष करना पड़े। यदि इन दस हजार वर्षों का हमारा राष्ट्रीय जीवन एक भूल है तो भी कोई चारा नहीं। यदि हम अब कोई नया चरित्र अपनाने का प्रयास करेंगे तो उसका अपरिहार्य परिणाम होगा हमारी मृत्यु।

हमारी राष्ट्रीय चेतना के छिपे अग्निकण

मेरे मतानुसार हमारा यह सोचना कि 'हमारा राष्ट्रीय आदर्श एक भूल रही है' निरी मूर्खता और विवेक का अभाव मात्र है। पहले अन्य देशों में जाइये और अपनी आँखों से—दूसरों की आँखों से नहीं—वहाँ की अवस्था तथा आचार-विचार का सूक्ष्म अध्ययन कीजिये। फिर विचारशील मस्तिष्क से—यदि आपके पास है तो—उन पर चिन्तन-मनन कीजिये। फिर अपने शास्त्रों के प्राचीन वाङ्मय को टटोलिये, सम्पूर्ण भारत का भ्रमण कीजिये और खुली आँखों तथा सूक्ष्म एवं मर्मभेदी दृष्टि से उसके विभिन्न भागों के निवासियों के आचार-विचार तथा आदतों का निरीक्षण कीजिये। तब आपको मध्यान्हकालीन सूर्य के समान स्पष्ट हो जायगा कि इस राष्ट्र का जीवन अभी अक्षुण्ण है, उसकी नाड़ियों में प्राणों का स्पन्दन निश्चित रूप से विद्यमान है।

तब आपको पता चलेगा कि इस बाह्य मूर्च्छा की राख के नीचे राष्ट्रीय चेतना की ज्वाला अभी भी सुलग रही है। राष्ट्र का प्राण धर्म है, इसकी भाषा धर्म है, तथा इसका भाव धर्म है। आपकी राजनीति, समाज नीति, नगरों की सफाई, प्लेग-निवारण कार्य, अकाल-पीड़ित-सहायता कार्य आदि सब चीजें आज तक जिस ढंग से यहाँ होती आयी हैं, उसी मार्ग से अब भी होंगी। अर्थात्, केवल धर्म के माध्यम से होंगी, अन्यथा तुम्हारी चीख-पुकार का कोई परिणाम नहीं निकलेगा।

राष्ट्रीय जीवन-संगीत के विभिन्न स्वर

प्रत्येक राष्ट्र की अपनी अलग कार्यप्रणाली होती है। कुछ राजनीति के माध्यम से कार्य करते हैं तो कुछ सामाजिक सुधारों के माध्यम से और अन्य इससे भी भिन्न मार्गों से। हमारे लिये धर्म का ही एकमेव मार्ग खुला है। अंग्रेज धर्म को राजनीति के माध्यम से ही समझ सकता है। संभवत: अमेरिकन को धर्म सामाजिक सुधारों के माध्यम से ही समझ में आ सकता है। किन्तु हिन्दू को राजनीति भी धर्म की भाषा में समझानी होगी। उसके लिये प्रत्येक चीज धर्म के माध्यम से आनी चाहिये। यही हमारे राष्ट्रीय जीवन संगीत का स्थायी स्वर है, अन्य सब स्वर परिवर्तनशील हैं।

जिस राष्ट्र का जीवन-लक्ष्य राजनीतिक प्रभुता है, उसके लिये धर्म आदि अन्य सब चीजें उस एक महान् जीवन लक्ष्य के आधीन हो जाती हैं किन्तु यहां एक दूसरा राष्ट्र है जिसके जीवन का मुख्य लक्ष्य अध्यात्मिकता और त्याग है, जिसका एक ही मूल-मन्त्र है कि यह संसार माया है और तीन दिनों का क्षणभंगुर खेल है। अन्य सब कुछ—चाहे विज्ञान हो या ज्ञान, सुखोपभोग हो या प्रभुता, धन-वैभव हो या नाम और यश—उस एक लक्ष्य के अन्तर्गत आने चाहिये। सच्चे हिन्दू के चारित्र्य का रहस्य इसी में है कि वह पाश्चात्य-विज्ञान एवं विद्याओं के अपने समस्त ज्ञान को अपनी

सम्पत्ति व धन-वैभव को, अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा तथा यश को इस एक मुख्य लक्ष्य के आधीन कर दे जो जन्म से ही प्रत्येक हिन्दू-शिशु को प्राप्त होता है—अर्थात् अध्यात्मिकता एवं जातीय शुद्धता ।

अध्यात्मिकता का आधार न छोड़ो

स्मरण रखो, यदि तुम पाश्चात्य भौतिकवादी सभ्यता के चक्कर में पड़कर अध्यात्मिकता का आधार त्याग दोगे तो उसका परिणाम होगा कि तीन पीढ़ियों में तुम्हारा जातीय अस्तित्व मिट जायगा क्योंकि राष्ट्र का मेरुदण्ड टूट जायगा; राष्ट्रीय भवन की नींव ही खिसक जायेगी । इस सबका परिणाम होगा सर्वतोमुखी सत्यानाश ।

अतः मित्रो ! एक ही मार्ग शेष है कि हम अपने प्राचीन पूर्वजों से चली आयी इस अमूल्य विरासत अध्यात्मिकता की पकड़ को कदापि ढीला न होने दें । क्या तुमने संसार में कोई ऐसा देश सुना है जहां के महातम् राजाओं ने अपनी वंशपरम्परा का स्रोत राजाओं से नहीं, निरीह यात्रियों को लूटने वाले; पुराने किलों में रहने वाले लुटेरों सरदारों से नहीं तो वनों में रहने वाले अर्द्ध-नग्न सन्यासियों से जोड़ा हो ! क्या तुमने कभी ऐसा देश सुना है ? तो सुनो ! यही है वह देश । अन्य देशों के बड़े पादरी पुरोहित भी अपनी वंशपरम्परा को किसी राजा से जोड़ने का प्रयास करते हैं, किन्तु यहां बड़े से बड़ा सम्राट भी अपने को किसी प्राचीन ऋषि का वंशज कहने में गौरव मानता है ।

इसलिये चाहे तुम्हारी अध्यात्मिकता में आस्था हो या न हो, राष्ट्रीय जीवन की रक्षा हेतु तुम्हें आध्यात्मिकता के आधार पर टिके रहना होगा । फिर दूसरा हाथ बढ़ा कर अन्य जातियों से जो कुछ लेना चाहो लो, किन्तु जो भी उनसे ग्रहण करो उसे अपने जीवन आदर्श के अधीन कर दो । तब एक चमत्कारी गौरवशाली भावी भारत का उदय होगा । मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह होकर रहेगा ! पहले से कहीं अधिक महान् भारत का उदय अवश्यम्भावी है ।

—:o:—

पुनरुत्थान का कार्य : आधार और दिशा

हे भारत !

केवल दूसरों की 'हाँ' में 'हां' मिला कर, दूसरों की इस क्षुद्र नकल के द्वारा, दूसरों का ही मुंह ताकते रह कर''''''''क्या तू इसी पाथेय के सहारे, सभ्यता और महानता के चरम शिखर पर चढ़ सकेगा ?

क्या तू अपनी इस लज्जास्पद कायरता के द्वारा उस स्वाधीनता को प्राप्त कर सकेगा जिसे पाने के अधिकारी केवल साहसी और वीर हैं ?

हे भारत !

मत भूल, तेरा नारीत्व का आदर्श सीता, सावित्री और दमयन्ती है।

मत भूल कि तेरे उपास्यदेव देवाधिदेव सर्वस्वत्यागी, उमापति शंकर हैं।

मत भूल कि तेरा विवाह, तेरी धन-सम्पत्ति, तेरा जीवन केवल विषय-सुख के हेतु नहीं है, केवल तेरे व्यक्तिगत सुखोपभोग के लिये नहीं है।

मत भूल कि तू माता के चरणों में बलि चढ़ने के लिये ही पैदा हुआ है।

मत भूल कि तेरी समाज-व्यवस्था उस अनन्त जगज्जननी महामाया की छायामात्र है।

मत भूल कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र, अपढ़, चमार, मेहतर सब तेरे रक्त मांस के हैं, वे सब तेरे भाई हैं।

ओ वीर पुरुष !

साहस बटोर, निर्भीक बन और गर्व कर कि तू भारतवासी है। गर्व से घोषणा कर कि, मैं भारतवासी हूँ, प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है।"

मुख से बोल, "अज्ञानी भारतवासी, दरिद्र और पीड़ित भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी सभी मेरे भाई हैं।" तू भी एक चिथड़े से अपने तन की लज्जा को ढक ले और गर्वपूर्वक उच्च-स्वर से उद्घोष कर, "प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत के देवी-देवता मेरे ईश्वर हैं। भारतवर्ष का समाज मेरे बचपन का झूला, मेरे यौवन की फुलवारी और बुढ़ापे की काशी है !

जाग्रत !!

मेरे भाई !

कह : "भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में ही मेरा कल्याण है।" अहोरात्र जपा कर, "हे गौरीनाथ ! हे जगदम्बे ! मुझे मनुष्यत्व दो। हे शक्तिमयी मां मेरी दुर्बलता को हर लो; मेरी कापुरुषता को दूर भगा दो और मुझे मनुष्य बना दो, माँ।"

पश्चिम का सब कुछ श्रेष्ठ,

वर्तमान (१९वीं) शताब्दी के आरम्भ में, जब पाश्चात्य प्रभाव भारत पर पड़ना शुरू हुआ, जब पाश्चात्य विजेता हाथ में कृपाण धारण कर ऋषियों के वंशजों को समझाने आये कि 'तुम्हारे पूर्वज असभ्य थे; निरे स्वप्न-द्रष्टा थे; उनका धर्म केवल पौराणिक गपोड़बाजी था; आत्मा, परमात्मा आदि चीजें, जिनके साक्षात्कार के लिये वे जूझ रहे थे, केवल अर्थहीन शब्द हैं; उनका सहस्रों वर्षों का संघर्ष, उनका सहस्रों वर्षों का असीम त्याग यह सब व्यर्थ हुआ' तब विश्वविद्यालयों के पढ़े-लिखे युवकों के मस्तिष्क को इन प्रश्नों ने आन्दोलित कर डाला कि क्या अब तक का हमारा सम्पूर्ण राष्ट्रीय अस्तित्व व्यर्थ रहा ? क्या अब हमें अपने पुराने शास्त्रों को फाड़ डालना चाहिये, अपने दर्शनों की होली जला डालना चाहिये, अपने धर्मोपदेशकों को दूर फेंक देना चाहिये, इन मन्दिरों को ढहा डालना चाहिये और पाश्चात्य जीवन-प्रणाली के अनुसार अपनी राष्ट्रीय जीवन-यात्रा का नया श्रीगणेश करना चाहिये ? क्या पाश्चात्य विजेता ने, जिसने अपने धर्म की श्रेष्ठता का परिचय तलवार और बन्दूक के माध्यम से दिया, हमें यह नहीं बताया कि सभी पुराने आचार-विचार निरे अन्धविश्वास और मूर्ति-पूजा पर आधारित हैं ?"

इन नये स्कूलों में शिक्षित एवं विकसित बच्चों ने जो बचपन से इन विचारों की सुरा पी रहे थे, पाश्चात्य ढंग पर जीवन-यात्रा प्रारम्भ की। अतः उनके मस्तिष्कों में ये प्रश्न उठे हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। किन्तु अन्धविश्वास से ऊपर उठकर सत्य की वास्तविक खोज करने के बजाय उनके लिये सत्य की एकमेव कसौटी हो गयी, "पश्चिम क्या कहता है ? चूंकि पश्चिम ने कहा है अतः पुरोहितों को भगा दो, वेदों को जला दो।"

सर्वत्र शक्ति की उपासना

मैंने पश्चिम में भी देखा कि दुर्बल राष्ट्रों के बच्चे, यदि इंग्लैंड में जन्म लेते हैं, तो अपनी सच्ची राष्ट्रीयता—ग्रीक, पोर्चुगीज, स्पेनिश आदि...के स्थान पर स्वयं को इंग्लिशमैन कहना पसन्द करते हैं। सब शक्तिशाली की ओर झुकते हैं। दुर्बलों की एक ही लालसा रहती है कि किसी प्रकार महिमावान में प्रभासित महिमा की

आभा इन पर पड़ जाय और उनके शरीरों में भी प्रतिभासित होने लगे अर्थात् ये दुर्बल, अपने पौरुष से महान बनने वालों से प्रकाश उधार लेकर चमकना चाहते हैं।

भारत मोहनिद्रा से जग रहा है

भारतवर्ष की वर्तमान शासन-प्रणाली में कई दोष हैं, परन्तु साथ ही कई बड़े गुण भी हैं। सबसे बड़ा गुण तो यह है कि पाटलिपुत्र-साम्राज्य के पतन के पश्चात् से अब तक आसेतु हिमाचल संपूर्ण भारतवर्ष पर ब्रिटिश शासन तन्त्र के समान केन्द्रीय एवं शक्तिशाली शासन तन्त्र की छत्रछाया कभी नहीं रही।

इस वैश्य प्रभुता के अन्तर्गत कर्मठ वैश्य वृत्ति के अनुकूल जिस प्रकार व्यापारिक वस्तुओं का विश्व के एक सिरे से दूसरे सिरे तक आदान-प्रदान चल रहा है, उसी प्रकार उसके स्वाभाविक परिणाम-स्वरूप विभिन्न देशों के विचार एवं भाव भी भारत की नसों में बलपूर्वक घुसते जा रहे हैं। इन विचारों और भावों में यदि कुछ सचमुच भारत के लिये लाभदायक है तो कुछ हानिकारक भी है और कुछ से भारतवासियों के वास्तविक हितों के बारे में विदेशियों की अज्ञता एवं असमर्थता ही प्रकट होती है।

किन्तु इन समस्त गुण-दोषों को भेदकर भारत की भावी समृद्धि का सूर्योदय अवश्यम्भावी है। एक ओर अपने प्राचीन राष्ट्रीय-आदर्शों एवं दूसरी ओर विदेशी राष्ट्रों के नव प्रविष्ट विचित्र आदर्शों के पारस्परिक घात-प्रतिघात के फल-स्वरूप भारत धीरे-धीरे अपनी सुदीर्घ प्रगाढ़ तन्द्रा से जग रहा है।

इस अल्प जागृति के फलस्वरूप आधुनिक भारत में मुक्त और मौलिक चिन्तन का भी थोड़ा-बहुत उदय होने लगा है। एक ओर आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान है, जो सैकड़ों सूर्यों के प्रकाश की भांति हमारे नेत्रों को चकाचौंध कर रहा है, जो यथार्थ भेदी भौतिक शक्तियों के विनियोग द्वारा संगृहीत कठोर और सुनिश्चित तथ्यों के रथ पर बैठ कर आगे बढ़ रहा है, तो दूसरी ओर हैं वे आशादायी एवं सशक्त परम्परायें, जिन्हें उसके पूर्व-पुरुषों ने उन दिनों बनायी थीं जब वह अपने गौरव के चरम शिखर पर आसीन था; जिन परम्पराओं को इतिहास के पृष्ठों से बाहर उसके महात्माओं ने आगे बढ़ाया; जो परम्परायें असंख्य वर्षों और शताब्दियों से भारत की प्रत्येक रग में विश्व-बन्धुत्व से अनुप्राणित कर्म-चैतन्य का संचार कर रही हैं; जो परम्परायें उन अद्वितीय शौर्य, अतिमानव प्रतिभा और चरम अध्यात्मिकता से परिपूर्ण हैं, जिनसे देवता भी ईर्ष्या करते हैं। ये दोनों ही भारत की भावी आशाओं को बल प्रदान करते हैं।

एक ओर विदेशी साहित्य के माध्यम से चरम भौतिकवाद, प्रचुर धन-सम्पत्ति, प्रभूत बल-संचय और उत्कट इन्द्रिय सुख की कामना ने जीवन में अपूर्व कोलाहल मचा रखा है, दूसरी ओर इस बेसुरे-संगीत के कर्ण-भेदी कोलाहल को विदीर्ण कर

उसके कानों में अपने पुरातन देवताओं की मर्मभेदी पुकार, मन्द किन्तु अचूक स्वर में आ रही है और उसे नई दिशा में एकदम आगे बढ़ने से रोक रही है।

उसके सामने पश्चिम से आयी विविध प्रकार की विचित्र-विचित्र विलास सामग्रियाँ बिखरी पड़ी हैं—ये बढ़िया पेय, ये सुन्दर स्वादिष्ट भोजन, ये तड़क-भड़कदार वस्त्र, शानदार अट्टालिकायें, नये युग के वाहन, नये शिष्टाचार, और ये नये-नये फैशन, जिसमें सज-धजकर सुशिक्षित लड़कियाँ अत्यन्त निर्लज्जतापूर्वक पूर्ण स्वच्छन्दता से घूमती फिरती हैं। ये सब सामग्रियाँ न जाने कितनी नई-नई इच्छाओं तथा वासनाओं को भड़का रही हैं।

किन्तु, फिर दृश्य बदलता है और उनकी जगह आ जाती हैं सीता और सावित्री, व्रत और उपवास, तपोवन और जटाजूटधारी काषाय वस्त्रधारी अर्द्ध-नग्न संन्यासी समाधि और आत्म-साक्षात्कार की ठोस साधना। एक ओर निजी स्वार्थ पर आधारित पाश्चात्य समाजों का अधिकार स्वातन्त्र्य है, दूसरी ओर आर्य जाति का चरम आत्मोत्सर्ग है। इस विषम संघर्ष में यदि भारतीय समाज की नैया थोड़ी बहुत डगमगा गई तो उसमें आश्चर्य क्या ?

पाश्चात्य जगत् का साध्य है व्यक्तिगत अधिकार स्वातन्त्र्य, उसकी साधना है धनोपार्जक शिक्षा, उसका साधन है राजनीति; जबकि भारत का लक्ष्य है 'मुक्ति,' उसकी साधना है वेदाध्ययन और उसका साधन है निवृत्ति।

वर्तमान भारतवर्ष मानों एक बार सोचने लगता है कि कहीं मैं परलोक के अनिश्चित अध्यात्मिक कल्याण की निरर्थक आशा में पड़कर इस लोक का सत्यानाश तो नहीं कर रहा हूँ ? किन्तु दूसरे ही क्षण वह स्तब्ध हो सुनता है : 'इति संसारे स्फुटतर दोषः, कथमिह मानव तव संतोषः" अर्थात् "अनेक दोषों से परिपूर्ण इस संसार में ऐ मानव ! तेरा सुख कहाँ है ?"

एक ओर, नया भारत कहता है, 'पाश्चात्य भाव, पाश्चात्य भाषा, पाश्चात्य खान-पान, और पाश्चात्य आचार को अपनाकर ही हम पाश्चात्य राष्ट्रों के समान शक्तिशाली हो सकेंगे," दूसरी ओर पुराना भारत कहता है—' हे मूर्ख ! कहीं नकल करने से भी दूसरों का भाव अपना हुआ है ? बिना स्वयं कमाये कोई वस्तु अपनी नहीं होती। क्या सिंह की खाल ओढ़कर गधा भी सिंह बन सकता है ?"

एक ओर नवीन भारत कहता है, "पाश्चात्य राष्ट्र जो कुछ कर रहे हैं वही अच्छा है। अन्यथा, वे लोग इतने शक्तिशाली होते ही कैसे ?" दूसरी ओर प्राचीन भारत कहता है, "बिजली की चमक बहुत तेज होती है, किन्तु क्षणिक होती है। बच्चो ! आंखें खोलो, तुम्हारी आंखें उससे चौंधिया गई हैं। किन्तु सावधान।"

सीखो किन्तु अन्धानुकरण न करो

तो क्या हमें पाश्चात्य जगत् से कुछ भी सीखने को नहीं है ? क्या हमें अच्छी

चीजों के लिए प्रयत्न और परिश्रम करने की आवश्यकता ही नहीं है ? क्या हम स्वयं पूर्ण हैं, क्या हमारा समाज बिलकुल छिद्र-शून्य है, क्या उसमें कोई त्रुटि नहीं है ? नहीं, सीखने को बहुत कुछ है। नयी और श्रेष्ठतर चीजों की उपलब्धि के लिये हमें मृत्युपर्यन्त संघर्ष करते रहना चाहिये।

श्री रामकृष्ण देव कहा करते थे—"मैं जब तक जीऊँ, सीखता ही रहूँ।" जिस व्यक्ति या समाज को कुछ सीखना नहीं रह गया है, वह काल के गाल में प्रविष्ट हो चुका है। अवश्य ही हमें पश्चिम से अनेक बातें सीखनी चाहियें, किन्तु इसके साथ ही कई भय भी हैं।

एक अल्पबुद्धिवाला बालक श्री रामकृष्णदेव के सम्मुख सदैव शास्त्रों की निन्दा किया करता था। एक दिन उसने भगवद्गीता की प्रशंसा की तो श्री रामकृष्णदेव ने कहा, "मेरा अनुमान है कि किसी योरोपीय पण्डित ने गीता की प्रशंसा की होगी, इसीलिये यह भी उसका अनुकरण कर रहा है।"

हे भारत ! यही तुम्हारे लिये सबसे भयंकर खतरा है। पश्चिम के अन्धानुकरण का जादू तुम्हारे ऊपर इतनी बुरी तरह सवार होता जा रहा है कि 'क्या अच्छा है और क्या बुरा' इसका निर्णय अब तर्क-बुद्धि न्याय हिताहित, ज्ञान अथवा शास्त्रों के आधार पर नहीं किया जा रहा है। जिन विचारों, जिन आचारों को गोरे साहब पसन्द करें अथवा जिनकी वे प्रशंसा करें, वही बातें अच्छी हैं, जिन बातों की वे निन्दा करें अथवा नापसन्द करें वही बुरी। ओह, इससे बढ़कर मूर्खता का परिचय और कोई क्या देगा ?

उनका अमृत हमारे लिये विष हो सकता है

हमें अपनी प्रकृति के अनुकूल विकास करना होगा। विदेशी समाजों द्वारा हम पर बलात् आरोपित कार्य-प्रणालियों का अनुगमन करना हमारे लिए निरर्थक है। यह असम्भव भी है। ईश्वर को धन्यवाद है कि यह नहीं हुआ और हमें दूसरे राष्ट्रों के साँचे में तोड़ा-मरोड़ा नहीं जा सकता। मैं अन्य जातियों की सामाजिक संस्थाओं की निन्दा नहीं करता, वे उनके लिये अच्छी हैं, किन्तु हमारे लिये नहीं। जो उनके लिए अमृत है, वही हमारे लिये विषतुल्य हो सकता है। यह पहला पाठ है जिसे हमें स्मरण रखना है। उनकी वर्तमान जीवन प्रणाली के पीछे दूसरी विधायें हैं, दूसरी संस्थायें हैं, और दूसरी परम्परायें हैं। हम अपनी परम्पराओं के कारण, अपने पीछे सहस्रों वर्ष के कर्म-संचय के कारण, अपनी ही प्रवृत्ति के अनुसार आगे बढ़ सकते हैं, अपने जीवन-प्रवाह के अनुकूल रहकर ही प्रगति कर सकते हैं।

दो प्रकार की सभ्यताएं

संसार में समाज-रचना के दो पृथक् प्रयास किये गये हैं। एक का अधिष्ठान

धर्म रहा है तो दूसरे का आधार केवल सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति । एक अध्यात्मिकता की नींव पर खड़ा हुआ तो दूसरा जड़वाद की । एक अतीन्द्रिय ज्ञान पर आधारित है तो दूसरा घोर यथार्थवाद पर । यदि एक इस छोटे से भौतिक जगत के क्षितिज के परे देख रहा है और इस लोक की उपेक्षा करके भी वहाँ से जीवन का श्रीगणेश करने का साहस रखता है तो दूसरा, इसी लोक की चीजों में सुख मान रहा है और यहीं जीवन का अटल आधार खोज रहा है ।

स्वाभाविक ही दोनों की अपनी-अपनी भिन्न रचना-विधि हैं। भारत धार्मिक या अन्तर्मुखी है तो पश्चिम इन्द्रिय-गम्य वैज्ञानिक अथवा बहिर्मुखी है । पश्चिम अध्यात्मिकता का प्रत्येक कण समाज सुधार के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है । पूर्व अध्यात्मिकता के माध्यम से सामाजिक उत्थान के प्रत्येक सोपान पर बढ़ने की आकांक्षा रखता है। यही कारण है कि आधुनिक भारतीय सुधारकों को सुधार का और कोई मार्ग सूझा ही नहीं सिवाय इसके कि सर्वप्रथम यहाँ के धर्म को कुचला जाय । उन्होंने प्रयत्न किया, किन्तु वे असफल रहे । क्यों ? क्योंकि उनमें से बहुत कम ने अपने धर्म का अध्ययन किया था और एक ने भी वह कठोर साधना नहीं की जिसके द्वारा ही सब धर्मों की इस जननी को समझा जा सकता था ।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दू समाज के सुधार के लिए धर्म का विनाश आवश्यक नहीं है । और, हमारे समाज की इस दुरवस्था का कारण धर्म नहीं है, बल्कि धर्म का समाज जीवन में यथोचित पालन न होना है ।

समन्वय आवश्यक, किन्तु भारत योरोप नहीं बन सकता

किन्तु साथ ही भारत में नयी परिस्थितियाँ समाज-संगठन में नये सुधारों की लगातार मांग कर रही हैं । विगत ५०-५५ वर्षों से भारत में सुधारकों एवं सुधारवादी संस्थाओं की बाढ़ सी आ गयी है । किन्तु ओह ! उनमें से प्रत्येक को असफलता मिली है । उन्हें मूल रहस्य का पता ही नहीं था । उन्हें जिस महापाठ को सीखना चाहिए था, उसे उन्होंने सीखा ही नहीं । उतावलेपन में उन्होंने समाज के समस्त दोषों का पाप 'धर्म' के मत्थे मढ़ दिया उन्होंने एक प्रचलित लोककथा के अनुसार मित्र के माथे पर बैठे हुए मच्छर को मारने के प्रयास में मच्छर और मित्र दोनों को एक साथ मारने का प्रयास किया । किन्तु हमारे यहाँ, सौभाग्य से, उन्होंने केवल अचल चट्टानों के विरुद्ध अपना सिर टकराया और परिणामस्वरूप उनका अपना ही अस्तित्व मिट गया ।

उन उदार एवं निःस्वार्थ आत्माओं का भला हो, जिन्होंने यथाशक्ति संघर्ष किया किन्तु जिनके प्रयास पथभ्रष्ट होने के कारण विफल रहे । इस सोये हुए कुम्भकर्ण को जगाने के लिये उनकी सुधारवादी तृष्णा से उत्पन्न इन प्रबल आघातों का लगना

आवश्यक था। किन्तु रचनात्मक न होकर, वे पूर्णतया विध्वंसात्मक थे। अतः उनका विनष्ट होना अवश्यम्भावी था और वे काल के गाल में समा भी गये।

हम उन सुधारकों के लिए शुभ कामनायें रखें और उनके अनुभवों से शिक्षा लें। उन्होंने यह महत्वपूर्ण पाठ नहीं पढ़ा था कि विकास अन्दर से बाहर को होता है, और सम्पूर्ण बाह्य विकास पहले से विद्यमान शक्तियों की अभिव्यक्ति मात्र है। उन्हें यह भी पता नहीं था कि बीज अपने चारों ओर के तत्वों को केवल आत्मसात् कर लेता है किन्तु वह अपनी प्रकृति के अनुकूल वृक्ष को ही जन्म देता है। जब तक हिन्दू जाति का नामोनिशान नहीं मिट जाता और कोई नई जाति इस भूमि पर अपना पूर्ण अधिकार नहीं जमा लेती तब तक यह कभी नहीं हो सकेगा—चाहे पूर्व प्रयास करे या पश्चिम। भारत योरप कभी नहीं बनेगा।

मैं भी मानता हूँ कि हमें अन्य राष्ट्रों से बहुत सी अच्छी बातें लेना है। हमें विदेशों से बहुत कुछ सीखना है। किन्तु मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि हमारे अधिकांश वर्तमान सुधार-आन्दोलन पश्चिमी साधनों एवं कार्य प्रणाली की अन्धी नकल हैं, और यह निश्चित ही भारत के लिए हितकर नहीं है। यही कारण है कि हमारे सब आधुनिक सुधार-आन्दोलनों का कोई फल नहीं निकला। हमें परम्परा और इतिहास से प्राप्त अपने जातीय चरित्र को अक्षुण्ण रखने का प्रयास करना चाहिए।

अटल केन्द्र के परिवर्तनशील वृत्त

सर्वप्रथम हमें प्रत्येक वस्तु में नित्य और अनित्य तत्व का विवेचन करना चाहिए। नित्य सनातन होता है और अनित्य की केवल सामयिक उपयोगिता रहती है। उदाहरणार्थ, जातियां निरन्तर बदल रही हैं। धार्मिक कर्मकाण्ड भी सतत बदलते रहे हैं। ऐसा ही अन्य समस्त बाह्य रूपों का भी होता है। किन्तु उनका मूलाधार, मूल-सिद्धांत कभी नहीं बदलता। हमें अपने धर्म के मूलस्वरूप का अध्ययन वेदों में ही करना होगा। वेदों के अतिरिक्त प्रत्येक पुस्तक परिवर्तनशील है।

वेद सनातन हैं और सब कालों में एक ही रहेंगे। किन्तु स्मृतियों का अन्त भी होगा। ज्यों-ज्यों समय बीतता जायेगा नवीन स्मृतियां बनती रहेंगी, नये ऋषि आयेंगे और वे युग की आवश्यकतानुसार समाज को बदलेंगे और अच्छे मार्गों से अच्छे कर्मों पर चलायेंगे क्योंकि इसके बिना समाज का जीवित रहना असम्भव है।

अतीत में इस देश में अनेक महान् कार्य हुए हैं और उससे भी महान् कार्य करने का पर्याप्त समय और क्षेत्र अभी शेष है। तुम यह जानते ही हो कि हम एक जगह जड़वत् नहीं रुके रह सकते। यदि हम जड़वत् खड़े रहें तो हम मर जायेंगे। हमें आगे जाना होगा या पीछे हटना पड़ेगा। हमें उन्नति की ओर अग्रसर होना होगा अन्यथा हमारी अवनति अपने आप होती जायगी। हमारे पूर्व पुरुषों ने प्रचीनकाल

में बहुत बड़े-बड़े काम किये हैं पर हमें उनसे भी अधिक पूर्ण जीवन का विकास करना होगा और उनकी महान् उपलब्धियों को लांघ कर आगे बढ़ना होगा। अब हम पीछे कैसे हट सकते हैं और अपनी अवनति को निमन्त्रण कैसे दे सकते हैं ? ऐसा कभी नहीं हो सकता। पीछे हटने का अर्थ है राष्ट्रीय पतन और मृत्यु। अतएव "अग्रसर होकर महत्तर कर्मों का अनुष्ठान करें"। यही मुझे तुमसे कहना है।

भारत की प्राचीन समाज-संस्थाएँ

यद्यपि हमारी जाति-प्रथा एवं अन्य संस्थायें बाहर से देखने पर धर्म से जुड़ी हुई लगती हैं, तथापि वस्तुस्थिति यह नहीं है। ये संस्थाएँ हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व के संरक्षण के लिये आवश्यक रही हैं किन्तु जब आत्मसंरक्षण की यह आवश्यकता समाप्त हो जायगी ये सभी संस्थाएँ अपनी स्वाभाविक मृत्यु मर जायेंगी।

मेरी आयु जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे मुझे भारत की इन प्राचीन संस्थाओं की श्रेष्ठता स्पष्ट होती जा रही है। एक समय था जब मैं इनमें से अनेक को निकम्मा और निरुपयोगी समझता था, किन्तु जैसे-जैसे मेरी आयु बढ़ती जाती है उनमें से किसी की भी निन्दा करने का मेरा साहस कम होता जाता है, क्योंकि उनमें से प्रत्येक शताब्दियों के अनुभवों का परिपाक है।

एक कल का बच्चा, जो अगले दिन ही मर जाने वाला है, मेरे पास आता है और कहता कि 'तुम अपनी समस्त योजनायें बदल दो' यदि मैं उस बच्चे की सलाह मान कर अपने समस्त वातावरण को उसके विचारों के अनुसार बदल डालूं तो मेरे समान मूर्ख और कौन होगा ?

अनेक देशों से हमें जो परामर्श मिल रहा है वह इसी श्रेणी में आता है। इन बुद्धि के ठेकेदारों को बता दो, "मैं तुम्हारी बात तब सुनूंगा जब तुम पहले अपने यहां एक स्थायी समाज की रचना करके दिखा दोगे। तुम दो दिन तो एक विचार पर टिक नहीं सकते, तभी तुम आपस में झगड़ने लगते हो और असफल हो जाते हो। तुम बरसाती जुगनुओं की तरह दो घड़ी चमकते हो और तिरोहित हो जाते हो। तुम बुलबुले की तरह उठते हो और तुरन्त विलीन हो जाते हो। पहले हमारे जैसा स्थायी समाज खड़ा करो। पहले ऐसे नियम और संस्थाएं बनाओ जिसकी अन्त-र्शक्ति शताब्दियों तक टिकी रहे। तब तुम इस विषय पर बात करने के योग्य बन सकोगे। किन्तु तब तक मेरे मित्र, तुम केवल एक अबोध शिशु ही रहोगे।"

मानव-प्रगति की हमारी योजना

मैं किसी सामयिक जीवन-सुधार का प्रचारक नहीं हूं। मैं केवल कुछ दोषों को दूर करने का प्रयास भी नहीं कर रहा हूं। मैं तुम से कहता हूं कि आगे बढ़ो और

हमारे पूर्व पुरुष समग्र मानव जाति की उन्नति के लिए जो सर्वाङ्ग सुन्दर परिकल्पना दे गये हैं, उसी का अवलम्बन कर उनके उद्देश्य को सत्य-सृष्टि में परिणत कर दो। मेरा तुम से एक ही अनुरोध है कि मनुष्य जाति के एकत्व और ईश्वरत्व के वेदान्तिक आदर्श के अधिकाधिक समीप पहुंचने के लिये कार्य करो।

हमारे प्राचीन स्मृतिकार भी जाति-भेद का लोप करने वाले थे। किन्तु वे हमारे आधुनिक सुधारकों के समान नहीं थे। जातिप्रथा तोड़ने से उनका मतलव कदापि यह नहीं था कि शहर भर के सब लोग एक साथ बैठकर शराब-कवाब उड़ायें, न यह था कि देश भर के सब मूर्ख और पागल लोग चाहे जब जहाँ, जिसके साथ ब्याह रचा लें और सम्पूर्ण देश को पागलखाने में परिणत कर दें, और न उनका यही विश्वास था कि देश की समृद्धि का मापदण्ड उनकी विधवाओं के पुनर्विवाहों की संख्या पर निर्भर है। इस प्रकार से किसी जाति को उन्नत होते मैंने तो अब तक देखा नहीं।

हिन्दू समाज का आदर्श—ब्राह्मणत्व

ब्राह्मण ही हमारे पूर्व पुरुषों के आदर्श थे। हमारे सभी शास्त्रों में ब्राह्मणों का सात्विक चरित्र उच्च आदर्श माना गया है। योरुप के बड़े-बड़े धर्माचार्य हैं कि वे अपने पूर्वजों की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिये जी-तोड़ कोशिश करते हैं और सहस्रों रुपये भी खर्च करते हैं। उन्हें तव तक सन्तोष नहीं होता, जव तव वे अपनी वंश परम्परा का सम्बन्ध किसी ऐसे भयानक अत्याचारी से जोड़ न लें जो किसी पहाड़ी पर रहता हो, वहाँ से राहगीरों को ताका करता हो और मौका पाते ही उन पर झपट कर उनका सब कुछ लूट लेता हो। यह था इन श्रेष्ठ कुलीनता के प्रदाता पूर्वजों का चरित्र। धर्माचार्य तब तक सन्तुष्ट नहीं होते जब तक इनमें से किसी एक से अपना वंशानुक्रम न ढूंढ लें। किन्तु ठीक इसके विपरीत, भारत के बड़े-बड़े राजा भी इसी बात का पता लगाने की चेष्टा करते हैं कि हम अमुक कौपीनधारी, सर्वस्व-त्यागी, वनवासी, कन्द मूलाहारी और वेदपाठी ऋषि की सन्तान हैं। इस देश में तुम तभी ऊंची जाति के माने जाओगे जब तुम अपनी वंश-परम्परा किसी पूर्व ऋषि से जोड़ सको, अन्यथा नहीं।

अतएव, उच्च जन्म का हमारा आदर्श अन्य देशों से भिन्न है। अध्यात्मिक साधना-सम्पन्न महात्यागी ब्राह्मण ही हमारे आदर्श हैं। इस ब्राह्मण-आदर्श से मेरा क्या अभिप्राय है ? आदर्श ब्राह्मणत्व वही है, जिसमें सांसारिकता नाममात्र को न हो तथा सच्चा ज्ञान पूर्णमात्रा में हो। हिन्दू-समाज का यही आदर्श है। क्या आपने नहीं सुना कि शास्त्रों में लिखा है, "ब्राह्मण के लिये कोई नियम-बन्धन नहीं, वे राजा के द्वारा शासित नहीं होते, और उनके शरीर को तनिक भी चोट नहीं पहुंचाई जा सकती ?" यह बात बिलकुल सच है। स्वार्थी एवं अज्ञ लोगों ने इसके जो अर्थ

निकाले हैं, उन्हें मत अपनाओ। इसको सच्चे और मूल वेदान्तिक भाव के प्रकाश में ही समझने का यत्न करो।

राज्यसत्ता का तिरोहण कैसे ?

यदि ब्राह्मण कहने से ऐसे व्यक्ति का बोध होता हो, जिससे स्वार्थपरता का एकदम नाश कर डाला है, जो ज्ञान तथा प्रेम के प्रसार-प्रचार के लिए ही जीवन-धारण करता है—और यदि कोई समाज ऐसे ही ब्राह्मण से, जो अध्यात्मिक एवं सत्यभाव से युक्त हैं, भरा हुआ है, तो क्या उस समाज का समस्त कानूनों से परे एवं ऊपर होना कोई आश्चर्य की बात है ? ऐसे लोगों पर शासन करने के लिए पुलिस अथवा सेना की आवश्यकता ही क्या है ? आखिर, ऐसे आदमियों पर शासन करने का प्रयोजन भी क्या है ? ऐसे लोग किसी शासन-तन्त्र के अधीन ही क्यों रहें ? वे लोग साधु-स्वभाव एवं महात्मा हैं। वे ईश्वर के सच्चे प्रतिनिधि हैं। वे ही हमारे आदर्श ब्राह्मण हैं। और हम शास्त्रों में पढ़ते हैं कि सत्ययुग में केवल एक ही जाति थी और वह थी ब्राह्मण।

सत्ययुग में सब ब्राह्मण

महाभारत में बताया गया है कि पुराकाल में सारी पृथ्वी पर केवल ब्राह्मणों का ही निवास था। क्रमशः ज्यों-ज्यों उनका पतन हुआ, वे विभिन्न वर्णों में विभक्त हो गये :

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वं सृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥

(महाभारत, शा० पर्व)

फिर जब युग-चक्र घूमता-घूमता सत्ययुग तक आ पहुंचेगा, तब फिर से सब ब्राह्मण ही हो जायेंगे। वर्तमान युग-चक्र भविष्य में सत्ययुग के आने की सूचना दे रहा है। इसी बात की ओर मैं तुम्हारा ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। अतएव, हमारी जाति- समस्या का हल ऊंची जातियों को नीचे लाने, मनचाहा आहार-विहार करने और क्षणिक सुख-भोग के लिए अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा तोड़ने से नहीं निकलेगा। इसका अन्तिम हल तभी निकलेगा जब हम में से प्रत्येक व्यक्ति वेदान्तिक धर्म के आदर्शों का पालन करेगा, जब हर कोई अध्यात्मिकता को प्राप्त कर लेगा और हम में से प्रत्येक आदर्श ब्राह्मण बन जायेगा।

आदर्श ब्राह्मण बनना है

तुम आर्य हो या अनार्य, ऋषि-सन्तान व ब्राह्मण हो अथवा अत्यन्त नीच जाति के, भारत-भूमि के प्रत्येक पुत्र के लिये उसके पूर्वजों का यही एक आदेश है।

तुम सबके प्रति उनका एक ही आदेश है "चरैवेति,चरैवेति" । इस देश के उच्चतम व्यक्ति से लेकर निम्नतम चांडाल को भी आदर्श ब्राह्मण बनने की चेष्टा करना है । वेदान्त का यह आदर्श केवल भारतवर्ष के लिये ही उपयुक्त हो सो बात नहीं, वरन् सम्पूर्ण संसार को इसी आदर्श के अनुसार चलना होगा ।

हमारी वर्ण-व्यवस्था का यही आदर्श है । उसका उद्देश्य है कि सम्पूर्ण मानवता को शनैः-शनैः उस अध्यात्मिक पुरुष की ओर बढ़ाया जाय, तो अपरिग्रही, शान्त, धीर, श्रद्धालु, शुद्ध एवं अन्तर्मुखी है । इसी आदर्श में नारायणत्व की स्थिति है ।

पश्चिमी सांचे में ढला सुधारक वर्ग

आजकल हमारे बीच कुछ ऐसे भी सुधारक हैं जो हिन्दू राष्ट्र के पुनरुत्थान के लिये हमारे धर्म में सुधार करना चाहते हैं अथवा उसे बिलकुल उलट डालना चाहते हैं । निस्सदेह, उनमें कुछ लोग बड़े चिन्तनशील भी हैं किन्तु अधिकांश अन्धानुयायी हैं और मूर्खतापूर्ण कार्य करते हैं । उन्हें यह भी पता नहीं कि वे चाहते क्या हैं ? सुधारकों का यह वर्ग हमारे धर्म में विदेशी विचारों को समाविष्ट करने में बड़ा उत्साह लेता है । उन्होंने एक शब्द 'मूर्तिपूजा' को पकड़ लिया है और वह यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि मूर्तिपूजक होने के कारण हिन्दू-धर्म सच्चा नहीं है । उन्होंने यह पता लगाने का कभी प्रयास नहीं किया कि यह 'मूर्तिपूजा' है क्या वस्तु ? यह अच्छी है या बुरी । केवल दूसरों की बुद्धि का अनुकरण कर वे चिल्ला रहे हैं कि हिन्दू धर्म झूठा है ।

मूर्ति पूजा को खराब बताने की प्रथा सी चल पड़ी है और आजकल हर कोई उसे बिना किसी ननुनच स्वीकार भी कर लेता है । मैंने भी एक समय ऐसा ही सोचा था । किन्तु उसके प्रायश्चित स्वरूप मुझे एक ऐसे व्यक्ति के चरण कमलों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी जिसने मूर्तियों के द्वारा ही आत्म-साक्षात्कार किया था । मेरा अभिप्राय श्री रामकृष्ण परमहंस से है । यदि मूर्ति-पूजा के द्वारा श्री रामकृष्ण परमहंस जैसे साधु उत्पन्न हो सकते हैं, तब आप क्या लेना पसन्द करेंगे—इन सुधारकों के थोथे तर्क अथवा अधिक से अधिक मूर्तियां ? मैं इस प्रश्न का उत्तर चाहता हूं । यदि तुम मूर्तिपूजा के द्वारा श्री रामकृष्ण परमहंस उत्पन्न कर सकते हो तो और भी सहस्रों मूर्तियों की पूजा करो । ईश्वर तुम्हें इसमें सिद्धि दे । चाहे जिन साधनों से हो ऐसी महान् आत्माओं की सृष्टि करो ।

फिर भी मूर्ति-पूजा की निन्दा की जाती है । क्यों ? यह कोई नहीं जानता । क्योंकि कुछ सौ वर्ष पूर्व किसी यहूदी रक्त के व्यक्ति ने इसकी निन्दा की थी ? अर्थात् उसने अपनी मूर्ति को छोड़कर और सब मूर्तियों की निन्दा की थी । उस यहूदी ने कहा, ' यदि ईश्वर को किसी सुन्दररूप अथवा प्रतीकात्मक रूप में प्रकाशित

किया जाय तो वह बहुत बुरी बात है। यह पाप है। किन्तु यदि वह एक सिंहासन के रूप में ही जिसके दोनों ओर दो देवदूत बैठे हों और ऊपर एक बादल छाया हो तो यह उसका पवित्रतम प्रतीक है। यदि वह एक पेंडुकी का रूप लेकर आये, तो वह पवित्र है, किन्तु यदि वह गाय के रूप में आये तो यह विधर्मियों का अन्धविश्वास है और निन्दनीय है।" इस दुनियां की ऐसी ही विचित्र गति है।

अतीत के सच्चे सुधारक

क्या भारतवर्ष में कभी सुधारकों का अभाव रहा है ? क्या तुमने भारत का इतिहास पढ़ा है ? रामानुज कौन थे ? शंकर कौन थे ? नानक कौन थे ? चैतन्य कौन थे ? कबीर कौन थे ? दादू कौन थे ? ये बड़े-बड़े धर्मोपदेशक, जो भारत के भाग्याकाश में अति उज्ज्वल नक्षत्रों के समान एक-एक कर उदित हुए, कौन थे ? क्या रामानुज के अंतःकरण में नीच जातियों के लिये प्रेम नहीं था ? क्या उन्होंने जीवन भर चाण्डाल तक को अपने सम्प्रदाय में लाने का प्रयत्न नहीं किया ? क्या उन्होंने अपने सम्प्रदाय में मुसलमान तक को मिला लेने का प्रयत्न नहीं किया ? क्या नानक ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को निकट ला कर समाज में नयी स्थिति उत्पन्न करने का प्रयास नहीं किया ? उन सबने यह यत्न किया और आज भी उनका कार्य जारी है। अन्तर केवल इतना है कि वे आजकल के समाज सुधारकों की भांति दाम्भिक नहीं थे। वे आधुनिक सुधारकों के समान निन्दा नहीं करते फिरते थे अपितु उनके मुख से सदा आशीर्वाद ही निकलता था।

असीम करुणा और धैर्य से युक्त सुधारक

एक तथ्य तुम्हें स्मरण रखना चाहिये कि संसार के समस्त धर्म-प्रवर्तकों का एक ही ध्येय वाक्य रहा है कि वे विध्वंस के लिये नहीं, निर्माण के लिये आये हैं। कई बार उनकी इस घोषणा को सही अर्थों में नहीं समझा गया, और उनकी सहिष्णुता को प्रचलित धारणाओं के साथ अनुचित समझौता माना गया। अभी भी, कभी-कभी यह सुनने को मिल जाता है कि मानव जाति के भविष्यद्रष्टा एवं महान् आचार्य कायर थे और उनमें वह खुलकर कहने का साहस नहीं था, जिसे वे ठीक समझते थे। किन्तु ऐसी बात नहीं है।

ये आधुनिक कट्टरपन्थी, समस्त संसारवासियों को पुत्रवत् मानने वाली इन महान् आत्माओं के अन्तःकरण में विद्यमान प्रेम की असीम शक्ति को आंक ही नहीं सकते। वे सच्चे पिता थे, वास्तविक देवता थे। उनका अन्तःकरण प्रत्येक के लिये असीम सहानुभूति और करुणा से भरा था। वे सब कुछ सहने को और क्षमा करने को तैयार थे। वे जानते थे कि मानव समाजको कैसे विकसित होना चाहिये और धैर्य-

पूर्वक शनैः-शनैः किन्तु निश्चयपूर्वक वे अपने सुधारों को लागू करते। उन्होंने लोगों की भर्त्सना नहीं की, उन्हें भयभीत नहीं किया अपितु उन्हें दुलार-पुचकारकर एक-एक प्रग ऊंचा उठाने का प्रयास किया।

उपनिषदों के रचियता ऐसे ही थे। वे भली प्रकार जानते थे कि उनके युग की विकसित नैतिक मान्यताओं के साथ ईश्वर की प्राचीन कल्पनाओं की संगति नहीं बैठ पा रही है। वे यह भी भली प्रकार समझते थे कि नास्तिकों के प्रचार में वहुत कुछ सत्यांश है। किन्तु, साथ ही, वे यह भी समझते थे कि जो मोतियों को गूंथनेवाले माला के सूत्र को ही तोड़ डालना चाहते हैं, जो केवल हवा में एक नये समाज की रचना का स्वप्न देख रहे हैं, वे पूर्णतः असफल रहेंगे।

हम कभी बिलकुल नया निर्माण नहीं करते, केवल स्वरूप-परिवर्तन कर देते हैं। हम कोई बिलकुल नई चीज नहीं पा सकते, केवल वस्तुएं अपनी जगह छोड़ जाती हैं। बीज ही धीरे-धीरे चुपचाप वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। हमें केवल अपनी शक्तियों को सत्योन्मुखी करना चाहिए और पहले से विद्यमान सत्य को पूर्ण वनाना चाहिये न कि नये सत्यों को गढ़ने की चेष्टा। अतः ईश्वर सम्बन्धी प्राचीन विचारों को अपने काल के लिए व्यर्थ बताकर उनकी भर्त्सना न करते हुए प्राचीन भारतीय मनीषियों ने उनमें विद्यमान सत्य को उद्घाटिता किया। इसी का परिणाम निकला वेदान्त दर्शन के रूप में। उन्होंने क्रमशः पुराने अनेक देवताओं के भीतर से, सम्पूर्ण सृष्टि के शासनकर्ता, एक ईश्वर के भीतर से अन्त में एक निराकार परब्रह्म के रूप में उच्चतम विचार को खोज निकाला। उन्होंने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक ही तत्व को व्याप्त देखा।

सुधार का अर्थ है पुनरुज्जीवन न कि विध्वंस

जो सुधारक मूर्तिपूजा का विरोध करते हैं उनसे मेरा कहना है, "बन्धुओ ! यदि तुम निर्गुण ब्रह्म की किसी वाह्य सहायता के बिना ही उपासना करने में सक्षम हो, तो करो। परन्तु जो ऐसा नहीं कर सकते उनकी निन्दा क्यों करते हो ?

अति प्राचीन काल का भव्य, सुन्दर एवं विशाल भवन उपेक्षा अथवा अप्रयोग के कारण एक गिरी-पड़ी अवस्था में खड़ा है, उसके अन्दर-बाहर सब ओर गर्द जमी हुई है। यह भी हो सकता है कि उसके कुछ भाग बिलकुल धराशायी हो गये हों। तुम ऐसे भवन का क्या करोगे ? क्या तुम आवश्यक झाड़-पोंछ एवं मरम्मत द्वारा उसका पुन-निर्माण पसन्द करोगे अथवा उस पूरे भवन को ही धरती पर गिरा कर उसकी जगह एक नये नमूने का बिलकुल नया भवन बनवाना पसन्द करोगे जबकि अभी इस नमूने के स्थायित्व की परीक्षा होनी शेष है ? हमें उसका उद्धार करना है इसका सच्चा अर्थ इतना ही है कि पूरी चीज का विनाश न करके आवश्यक झाड़-पोंछ एवं मरम्मत द्वारा उसे प्रयोग के योग्य बनाना। सुधारक का कार्य यहीं समाप्त हो जाता है।

जाग्रत ! !

कोई भी सुधारवादी पन्थ—यदि केवल सुधार ही उसका लक्ष्य है तो—सदा सर्वदा जीवित नहीं रह सकता। केवल उसकी मूल प्रेरणा—रचनात्मक तत्व या सिद्धांत ही सदा जीवित रहते हैं। सुधार करते समय उनके भावात्मक पक्ष पर ही आग्रह करना चाहिए और जब भवन निर्माण पूर्ण हो जाय तब निर्माण कार्य में सहायक अस्थायी ढांचे को हटा लेना चाहिये।

हम साथ जियेंगे, साथ मरेंगे

किन्तु इसके विपरीत, हमारे देश के सुधारक एक नया ही पन्थ खड़ा करना चाहते हैं। उन्होंने कुछ अच्छा कार्य भी किया है, इसके लिए परमात्मा उनका कल्याण करे। किन्तु तुम हिन्दू होकर भी अपने को पूर्ण समाज से पृथक् करना चाहते हो ? तुम 'हिन्दू' नाम लेने में क्यों शरमाते हो जबकि यह तुम्हें सबसे महान् एवं गौरवपूर्ण धरोहर मिली है।

हे मेरे देशवासियो ! हे अमृत-पुत्रो !! तुम्हारा यह राष्ट्रीय जलपोत युगों से सभ्यता को ढो रहा है और अपने अमूल्य रत्नों से सम्पूर्ण विश्व का कोष भरता आ रहा है। सैकड़ों शानदार-शताब्दियों से हमारा यह राष्ट्रीय जलयान जीवन-सागर के आर-पार चक्कर लगाता रहा है और अगणित आत्माओं को सांसारिक दुखों से दूर, उस पार ले जा चुका है। किन्तु आज चाहे तुम्हारी अपनी भूलों से, चाहे किन्हीं अन्य कारणों से वह थोड़ा क्षतिग्रस्त हो गया होगा अथवा उसमें एकाध छेद हो गया होगा। तब तुम, जो इसमें बैठे हुए हो, क्या करोगे ? क्या तुम अब केवल इसे कोसते फिरोगे और आपस में झगड़ोगे ? क्या तुम सब एकता के सूत्र में गुंथकर इस के छेदों को बन्द करने का यत्न करोगे ? आओ ; यह करने के लिए हम सब अपना हृदय दें, अपना रक्त दें। और यदि हम अपने प्रयत्नों में असफल रहें तो साथ साथ डुब जायं और मर जायें—किन्तु अपने ओठों पर निन्दा के नहीं, आशीर्वचनों के साथ।

बुराई का समूल नाश असम्भव

हमारे समाज में अनेकों दोष होंगे किन्तु प्रत्येक अन्य समाज में भी तो दोष हैं। यहाँ, यदि कभी धरती विधवाओं के आँसुओं से भीग गयी होगी तो पश्चिम में वायुमण्डल अविवाहित कन्याओं की आहों से भरा रहता है। यदि यहां गरीबी जीवन का अभिशाप है तो वहाँ विलासिता और उन्माद से ही उनके जातीय जीवन को खा रहा है। यहाँ लोग इसलिये आत्महत्या करना चाहते है क्योंकि उन्हें खाने को कुछ नहीं मिलता और वहां लोग इसलिये आत्माहत्या करते हैं क्योंकि उन्हें खाते-खाते अजीर्ण हो जाता है।

दोष सब जगह हैं ये पुराने वातरोग की तरह हैं। इसे पैर से भगाओ तो सिर में पहुँच जायेगा, वहां से भगाओ तो कहीं और चला जायेगा। इसको भगाने का अर्थ है एक जगह से दूसरी जगह इसका पीछा करते रहना, इससे अधिक कुछ नहीं। अतः बच्चो ! दोष से पूर्ण मुक्ति पाने का विचार करना सही रास्ता नहीं है। हमारा दर्शन कहता है पाप और पुण्य का सनातन साथ है। वे एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं। यदि तुम एक को लोगे तो दूसरे को भी लेना पड़ेगा। समुद्र में एक लहर उठने का अर्थ कहीं दूसरी जगह गड्ढा होना है। नहीं, जीवन के साथ दोष जुड़ा ही है। एक सांस नहीं ली जा सकती बिना किसी की हिंसा किये, भोजनका एक ग्रास नहीं खाया जा सकता बिना किसी को इससे वंचित किये। यही सनातन नियम है, यही दार्शनिक सत्य है।

अतएव हम केवल इतना ही कर सकते हैं कि यह भली प्रकार समझ लें कि बुराई के विरुद्ध हमारे संघर्ष का वास्तविक स्वरूप वस्तुनिष्ठ की अपेक्षा आत्मनिष्ठ अधिक है। हम चाहे जितनी बड़ी बातें करें, किन्तु बुराई के विरुद्ध किये गये प्रत्येक कार्य का क्षेत्र बाहर नहीं, अपितु हमारे भीतर ही है। अतः वह शिक्षणात्मक है। यही बुराई को हटाने का वास्तविक अर्थ है। यह विवेक हमारी अशांति को दूर कर देगा और हमारे दुराग्रह को भी समाप्त कर देगा।

दुराग्रहपूर्ण सुधारों का परिणाम-लक्ष्य-हानि

संसार का इतिहास बताता है कि जहाँ कहीं ऐसे दुराग्रहपूर्ण सुधारों का प्रयास हुआ, उनका एकमेव परिणाम उनके अपने लक्ष्य की हानि में हुआ। अमेरिका में दास-प्रथा को समाप्त करने के लिये जो आन्दोलन हुआ, न्याय और स्वतन्त्रता की स्थापना के हेतु उससे भारी आन्दोलन की कल्पना नहीं की जा सकती। आप सब इस बारे में जानते हैं। किन्तु उसके परिणाम क्या निकले ? दास-प्रथा उन्मूलन के पूर्व दासों की जो दशा थी आज उससे सौगुना खराब है।

दास प्रथा-उन्मूलन के पूर्व ये बेचारे नीग्रो लोग किसी न किसी निश्चित व्यक्ति की सम्पत्ति होते थे। उनकी काफी चिन्ता की जाती थी ताकि इस सम्पत्ति को कोई हानि न पहुँचे। किन्तु आज वे किसी की भी सम्पत्ति नहीं हैं। उनके प्राणों का कोई मूल्य नहीं है, जरा-जरा से बहानों को लेकर उन्हें जीवित भून दिया जाता है। उन्हें बिना किसी कारण गोली मार दी जाती है, किन्तु उनके हत्यारों के लिये कोई कानून नहीं है। उन्हें मनुष्य नहीं समझा जाता, यहां तक कि पशु भी नहीं माना जाता, वे केवल 'काले आदमी हैं' यह फल निकला है किसी बुराई को कानून या कट्टरवादिता के साथ समाप्त करने का।

भारत में मूर्तिपूजा का आरम्भ सगुण ईश्वर की कल्पना के विरुद्ध गौतमबुद्ध

के सतत प्रहारों की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। वेद मूर्तिपूजा से अनभिज्ञ हैं। किन्तु सृष्टि के नियन्ता एवं पालक के स्थान से ईश्वर को हटाने की प्रतिक्रियास्वरूप महान् आचार्यों एवं धर्म-प्रवर्तकों की मूर्तियां बनना प्रारम्भ हो गईं और बुद्ध स्वयं एक भगवान बन बैठे। आज भी लाखों मनुष्य उनकी इसी रूप में पूजा करते हैं। सुधार के उग्र प्रयास सदैव सच्चे सुधार को पीछे ढकेलने के कारण हैं।

यही इतिहास की साक्षी है प्रत्येक कट्टरपंथी आन्दोलन के विरुद्ध—भले ही उसका लक्ष्य कल्याण करना क्यों न रहा हो।

जनता में सुधार की चाह कहां है ?

इसके साथ ही एक अन्य बात भी विचारणीय है। भारत की जनता को विरासत से प्राप्त आंतरिक ज्योति को प्रकाशित करने का अभी अवसर ही नहीं मिला। पश्चिम विगत कुछ शताब्दियों से व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की ओर तेजी से बढ़ रहा है। भारत में, राजा ही प्रत्येक बात का निर्णय करता था, कुलीनता से लेकर भक्ष्याभक्ष्य निर्णय तक। किन्तु पाश्चात्य देशों में जनता स्वयं सब कुछ करती है।

भारतवासियों में आत्मनिर्भरता की भावना तो दूर, अभी आत्म विश्वास भी रंचमात्र नहीं है। आत्मविश्वास जो कि वेदान्त का मूलाधार है; अभी तक हमारे व्यवहार में लेशमात्र नहीं आया है।

अतएव समाज सुधार की संपूर्ण समस्या यहां आकर केन्द्रित हो जाती है। सुधार चाहने वाले लोग कहाँ हैं ? पहले उनका निर्माण करो। "यदि सिर ही नहीं तो सिरदर्द कहां होगा ?"——अतः जनता कहां है, इसका विचार करो।

हमारा देश गहन तमस में डूबा

समस्त संसार का भ्रमण कर मैंने अनुभव किया है कि इस देश के लोग अन्य देशों की अपेक्षा गहन तमोगुण में डूबे हुए हैं। ऊपर से सात्विक (शान्त और संतुलित) अवस्था का मिथ्याभास होता है, किन्तु अन्दर पत्थरों के समान आमूल जड़ता एवं निष्क्रियता व्याप्त है। ऐसे लोग संसार में क्या कार्य कर पायेंगे ?

ऐसे निष्क्रिय, आलसी एवं इन्द्रियलोलुप लोग संसार में कितने समय और जीवित रह सकेंगे ? पहले पश्चिमी देशों का भ्रमण कीजिये और तब मेरे इन वचनों का खण्डन करने का साहस कीजिए। पाश्चात्य लोगों के जीवन में कितना उद्यम एवं अपने कार्य के प्रति कितना अनुराग है। उनमें कितने उत्साह और रजोगुण की अभिव्यक्ति है। जबकि हमारे देश में लगता है, मानों रक्त हृदय में जम गया है और अब वह नसों में बह ही नहीं सकता; मानों सम्पूर्ण शरीर को लकवा मार गया है और वह जड़वत् हो गया है।

तमोगुण के दमन के लिये रजोगुण आवश्यक

भारत में रजोगुण का प्राय: सर्वथा अभाव है, इसी तरह पश्चिम में सत्वगुण का अभाव है। अत: यह निश्चित है कि भारतवर्ष से सत्वगुण अथवा अध्यात्मिकता की प्रवल बाढ़ के ऊपर ही पाश्चात्य जगत का सच्चा जीवन निर्भर करेगा। और यह भी निश्चित है कि तमोगुण को रजोगुण के उद्रेक से दवाये बिना हमारा ऐहिक कल्याण नहीं होगा। इतना ही नहीं तो परलोक से सम्बन्धित हमारी उदात्त आकांक्षाओं एवं आदर्शों की प्राप्ति के मार्ग में भी अनेक भारी बाधायें खड़ी होंगी।

वैराग्य की अपेक्षा अधिक शांतिदायक और क्या हो सकता है? इसमें सन्देह नहीं कि अनन्त कल्याण की तुलना में क्षणिक ऐहिक सुख का कोई मूल्य नहीं है। सतोगुण (पूर्ण मानसिक निर्मलता) की अपेक्षा और कौन अधिक महाशक्ति दे सकता है? यह समुच सत्य है कि आत्म-विद्या की तुलना में अन्य समस्त विद्यायें अविद्या मात्र हैं। किन्तु मैं पूछता हूँ—"इस संसार में कितने ऐसे मनुष्य हैं जो सत्यगुण पाने का सौभाग्य रखते हैं? इस भारतवर्ष में ही ऐसे कितने मनुष्य हैं? कितनों में महान् शौर्य है कि 'मैं' और 'मेरे' पन की भावना का परित्याग कर सर्वस्वाहुति दे सकें?

कितने ऐसे सौभाग्यशाली हैं जिन्हें ज्ञान की वह सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त है जिसके द्वारा समस्त सांसरिक सुख तुच्छतम प्रतीत होने लगे? वह विशाल हृदय मनुष्य कहां है जो ईश्वर के सौन्दर्य एवं महिमा के ध्यान में निमग्न हो, अपने शरीर को भी भूल जायें? ऐसे लोग सम्पूर्ण भारत की जनसंख्या की तुलना में केवल मुट्ठी भर होंगे। और क्या केवल इन मुट्ठी भर लोगों का मोक्ष-मार्ग प्रशस्त करने के लिये भारत के करोड़ों नर-नारियों को वर्तमान सामाजिक और धार्मिक दुर्दशा के चक्र में पिसने दिया जाय? उनके इस तरह पिस जाने से क्या कल्याण होगा।

हम किसी बच्चे को वैराग्य का पाठ नहीं सिखा सकते। बच्चा जन्मजात आशावादी होता है। इन्द्रियों में ही उसकी सम्पूर्ण चेतना रहती है। उसका सम्पूर्ण जीवन मानों विषयों के आनन्द का पुंज होता है। इसी प्रकार प्रत्येक समाज में कुछ लोग बच्चे के समान होते हैं। उन्हें सांसारिक विषयों की निस्सारता को समझने के लिये पहले कुछ आनन्द एवं अनुभव अवश्य मिलना चाहिये। और तब वैराग्य उनमें स्वयमेव ही आ जायगा। हमारे शास्त्रों में उनके लिये पर्याप्त व्यवस्था की गयी थी किन्तु दुर्भाग्य से, परवर्ती कालों में प्रत्येक व्यक्ति को उन्हीं नियमों में बांधने की प्रवृत्ति चल पड़ी, जो संन्यासियों के लिये बनाये गये थे। यह एक भारी भूल हुई। यदि ऐसा न किया गया होता तो भारत में आज जो दुःख दारिद्र्य दिखायी देता है, उसका शतांश न दिखायी दिया होता।

हमारे पतन का कारण–'तमस'

क्या तुम नहीं देखते कि इस सत्वगुण की आड़ में देश धीरे-धीरे तमोगुण के समुद्र में डूब रहा है ? जहाँ महा जड़बुद्धि लोग समस्त कर्मों से अतीत पराविद्या के प्रति झूठा अनुराग प्रदर्शित कर अपनी मूढ़ता को छिपाना चाहते हैं, जहाँ जन्म भर आलसी अपनी अकर्मण्यता पर वैराग्य का आवरण डालना चाहता है; जहाँ क्रूरकर्मी लोग अपनी क्रूरता को तपस्या के चोले में छिपा कर धर्म का अंग बता रहे हैं, जहाँ अपनी दुर्बलताओं पर किसी की दृष्टि नहीं है, सब कोई सम्पूर्ण दोष दूसरों के मत्थे मढ़ने को तैयार है; जहाँ दूसरों के विचारों की जूठन को खा लेने को ही ज्ञान समझा जाता है; और जहाँ पूर्वजों के गौरव सुनाने में ही अपनी महत्ता समझी जाती है। क्या इसके अतिरिक्त और कोई प्रमाण चाहिये यह सिद्ध करने के लिये कि यह देश दिनोदिन तमोगुण के गहन गर्त में गिरता जा रहा है ?

अतएव, पूर्ण शुद्धता अथवा सतोगुण अभी भी हमसे बहुत दूर है। हममें से जो लोग अभी उसके योग्य नहीं हुए हैं किन्तु जो उस परमहंस की स्थिति के निकट पहुंचने की आशा-अकांक्षा रखते हैं उनके लिये अभी घोर क्रियाशीलता अथवा रजोगुण की स्थिति को प्राप्त करना ही लाभदायक रहेगा। रजोगुण की स्थिति से गुजरे विना क्या कोई व्यक्ति पूर्ण सात्विक अवस्था को कभी पा सकेगा ? हम ईश्वर-साक्षात्कार अथवा योग की आशा कैसे कर सकते हैं जब तक कि हमने भोग एवं सुख की अपनी तृष्णा को शांत न कर लिया हो ? जब तक इन सांसारिक सुखों के प्रति विराग उत्पन्न नहीं हुआ है, तब तक त्याग भाव कहां से आ सकता है ?

व्यक्तित्व का विस्मरण

गत शताब्दी में समाज-सुधार के जितने आन्दोलन हुए वे केवल ऊपरी दिखावा थे। इन सब सुधारों का सम्बन्ध केवल प्रथम दो वर्णों से था, अन्यों से नहीं। विधवा विवाह की समस्या का सम्बन्ध भारत की ७० प्रतिशत नारियों से नहीं है और ऐसे सब प्रश्न भारत के उच्च वर्णों के ही है, जो जनसाधारण को वञ्चित कर स्वयं शिक्षित हुए हैं। प्रत्येक प्रयत्न उनके घरों की सफाई के लिये ही हुआ। किन्तु यह सच्चा सुधार नहीं है। सुधार करने के लिये हमें समस्या की तह में घुसना पड़ेगा, चीजों की जड़ तक पहुँचना होगा। इसी को मैं आमूल सुधार कहता हूँ। जड़ में अग्नि रख दो और उसे क्रमश: ऊपर की ओर उठने दो तथा भारतीय राष्ट्र का रूप निखरने दो।

धर्म को दोष देने से कोई लाभ नहीं। एक मूर्ति के रहने न रहने से बहुत बड़ा फर्क नहीं पड़ता। दोष की पूरी जड़ यहाँ है ? "सच्चा राष्ट्र जो झोपड़ियों में रहता है अपनी मानवता को भूल चुका है, अपने व्यक्तित्व का विस्मरण कर चुका है उसे पुनः शिक्षित करना है।"

आत्म-विस्मृति को दूर करना होगा

उन्हें विचार देने होंगे। उनकी आंखें खोलनी होंगी और उन्हें दिखाना होगा कि उनके चारों ओर दुनियां में क्या हो रहा है। तब वे अपनी मुक्ति का मार्ग स्वयं खोज लेंगे। प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक नर एवं नारी को अपनी मुक्ति का मार्ग स्वयं निर्माण करना होगा। उन्हें विचार दो—केवल इतनी ही सहायता वे तुमसे चाहते हैं, शेष सब स्वयं पूर्ण हो जायगा। हमारा कार्य केवल विभिन्न रसायनों को एकत्र ला देना है। अपेक्षित परिणाम निकलना प्रकृति के नियमों के आधीन है। हमारा कर्तव्य इतना ही है कि हम उनके मस्तिष्कों में विचार भर दें, शेष कार्य वे स्वयं करेंगे। भारत में यही कार्य करना होगा।

तुम्हारा ध्येय वाक्य केवल यह रहे—"बिना उसके धर्म पर आघात पहुँचाये जनसमूह को ऊपर उठाना है।"

शिक्षा का प्रसार ही एकमेव हल

जिस दिन से योरप में शिक्षा और संस्कृति आदि का प्रवाह उच्च वर्गों से जन-साधारण की ओर बढ़ा, उसी दिन से पश्चिम की वर्तमान सभ्यता और भारत, मिस्र, रोम आदि की प्राचीन सभ्यताओं में अन्तर प्रारम्भ हो गया।

मैं अपनी आँखों से देख रहा हूं कि प्रत्येक राष्ट्र अपने जनसाधारण में शिक्षा और बुद्धिमत्ता की वृद्धि के अनुपात में ही प्रगति कर रहा है। भारत के पतन का भी मुख्य कारण सम्पूर्ण शिक्षा और बुद्धिमत्ता पर मुट्ठी भर अहम्मन्य और राज्याश्रय-प्राप्त व्यक्तियों का एकाधिकार रहा है। यदि हमें उत्थान करना है तो हमें भी वही करना होगा अर्थात् शिक्षा को जनसाधारण में फैलाना होगा।

शिक्षा से आत्मविश्वास

मुसलमानों के साथ कितने सिपाही आये थे? कितने अंग्रेज आज यहां है? भारत के अतिरिक्त और कहां ऐसे करोड़ों लोग मिल सकते हैं जो केवल छः रुपयों के लिए अपने सगे पिता तथा भाइयों का गला काट डालें? सात सौ वर्ष के मुस्लिम शासन काल में छः करोड़ मुसलमान और केवल सौ वर्ष के ईसाई शासन में बीस लाख ईसाई कैसे तैयार हो गये? मौलिकता ने इस देश का सर्वथा परित्याग क्यों कर दिया है? हमारे कलाकुशल शिल्पी,योरोपियनों के सम्मुख प्रतियोगिता में न टिक पाकर दिनोंदिन क्यों समाप्त होते जा रहे हैं? कौन सी शक्ति है जिसके द्वारा जर्मन मजदूर अंग्रेज मजदूर की कई शताब्दियों से गहरी जमी हुई जड़ों को हिलाने में समर्थ हो सका?

जाग्रत !!

शिक्षा, शिक्षा, केवल शिक्षा चाहिए। योरोप के अनेक नगरों में भ्रमण करते समय जब मैंने वहां दरिद्र लोगों के भी आराम और शिक्षा को देखा तो मेरी आंखों के समक्ष हमारे अपने दरिद्र लोगों का चित्र आ जाता था और मैं आंसू बहाने लगता था। यह अन्तर कैसे पड़ा ? मुझे एक ही उत्तर सूझा—शिक्षा के द्वारा। शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति में आत्मविश्वास जगता है।

यदि तुम्हारा सभी तैंतीस करोड़ पौराणिक देवताओं में तथा उन समस्त देवताओं में, जिन्हें बीच-बीच में विदेशियों ने हमारे अन्दर प्रविष्ट कराया, खूब विश्वास हो, किन्तु अपने पर तनिक भी विश्वास न हो, तो तुम्हारी मुक्ति संभव नहीं। अपने पर विश्वास रखो, उस विश्वास के सहारे खड़े हो और बलवान बनो। इसी की आज हम में आवश्यकता है।

मुझे स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि जल्दी ही हमारे देश में क्रियाशीलता और आत्म-निर्भरता की लहर अवश्य आयेगी। इसके अतिरिक्त कोई चारा भी तो नहीं। ज्ञानी मनुष्य भावी तीन युगों तक का दृश्य साफ देख सकता है। श्री रामकृष्ण देव के आविर्भाव के समय से प्राची का क्षितिज सूर्य की प्रातःकालीन किरणों से उद्भासित होने लगा है और शीघ्र ही सम्पूर्ण देश मध्याह्नकालीन सूर्य के प्रखर तेज से देदीप्यमान हो उठेगा, इसमें सन्देह नहीं।

—:o:—

'पुनरुद्धार' कार्य में रत कार्यकर्ताओं से:—

भारत फिर उठेगा, किन्तु केवल शारीरिक शक्ति से नहीं अपितु आत्मा के बल से; विध्वंस की पताका के नीचे नहीं तो शान्ति और स्नेह के उस ध्वज को लेकर जो संन्यासीके वेष का प्रतीक है।

अपने आन्तरिक देवत्व का आह्वान करो, जो तुम्हें भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी सहने की शक्ति प्रदान करेगा। भोग-विलासयुक्त घरों में रहना, जीवन के समस्त सुखों से घिरे रहना और एक तुच्छ अविकसित धर्म को पकड़े रहना अन्य देशों के लिए भले ही उपयुक्त हो, किन्तु भारत के पास सच्ची चेतना है। यह सहज बुद्धि से ही ढोंग को पहचान लेता है। तुम्हें इसे त्यागना होगा। महान् बनो। त्याग के बिना कोई भी महान् कार्य होना संभव नहीं।

अपने सुखों को, आनन्दों की, अपने यश की, प्रतिष्ठा की, यहां तक कि अपने प्राणों की भी आहुति चढ़ा दो और मानव आत्माओं का ऐसा सेतु बांध दो, जिस पर होकर ये करोड़ों नर-नारी भवसागर को पार कर जायं। 'सत्य' की समस्त कठिनाइयों को एकत्र करो। यह चिन्ता मत करो कि तुम किस पताका के नीचे चल रहे हो। यह भी चिन्ता मत करो कि तुम्हारा वर्ण क्या है—लाल, हरा या नीला। बल्कि सब वर्णों को मिला दो और स्नेह के प्रतीक श्वेत रंग का प्रखर तेज उत्पन्न करो। हम केवल कर्म करें। परिणाम अपनी चिन्ता स्वयं करेंगे।

मैं भविष्यद्रष्टा नहीं हूं; न मैं उसके लिये चिन्तित ही हूं। किन्तु एक दृश्य मेरे सामने बिल्कुल स्पष्ट है कि हमारी प्राचीन मातृभूमि एक बार जग उठी है। वह नवयौवन प्राप्त कर पहले से कहीं अधिक भव्य दीप्ति के साथ अपने सिंहासन पर बैठी हुई है। समस्त संसार को शान्तिपूर्ण और मंगलमय वाणी से उसका सन्देश सुनाओ।

सच्चे सुधारक के तीन अनिवार्य लक्षण

यदि तुम सच्चे सुधारक होना चाहते हो तो तुम में तीन बातें होना आवश्यक है। उनमें प्रथम है—'सहानुभूति'।

प्रथम हृदय से अनुभव करो

सर्वप्रथम, हृदय से अनुभव करो। तर्क या बुद्धि में क्या धरा है ? यह कुछ दूर तक जाती है और वहीं रुक जाती है। किन्तु हृदय के द्वारा प्रेरणा मिलती है। हृदय का ही सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। हृदय के द्वारा ही भगवान् का साक्षात्कार होता है, न कि बुद्धि के द्वारा। बुद्धि तो सिर्फ सड़क की सफाई करने वाले के समान है। यह हमारा रास्ता साफ करती है। पुलिसमैन के समान उसका गौण स्थान है। वह समाज के कार्य संचालन के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। पुलिसमैन का कार्य केवल उपद्रवों को रोकना और नियमोल्लंघन के प्रयासों का दमन करना मात्र है। और हम इतने ही कार्य की अपेक्षा बुद्धि से भी कर सकते हैं। बुद्धि अन्धी होती है, वह स्वयं चल नहीं सकती। उसके न हाथ होते हैं, न पैर। वस्तुतः भावना ही कार्य करती है। वह विद्युत या किसी भी अन्य चीज की अपेक्षा असंख्य गुना तेज गति से चलती है। अतः "तुम अनुभव करते हो या नहीं ?"—यही मुख्य प्रश्न है।

बुद्धि भी आवश्यक हैं क्योंकि उसके विना हम गढ़े में गिर जायेंगे और भारी गलतियां कर बैठेंगे। बुद्धि उनसे बचाती है, किन्तु उससे आगे बढ़कर वह अपने आधार पर कोई चीज खड़ा नहीं कर सकती। उससे केवल क्रियाहीन और गौण सहायता मिल सकती है। वास्तविक सहायता तो भावना या प्रेम से ही मिलती है।

प्रेम से असम्भव भी सम्भव

प्रेम असम्भव को सम्भव कर देता है। जगत् के सब रहस्यों का द्वार प्रेम ही है। अतः मेरे भावी सुधारको, मेरे भावी देशभक्तो, हृदय से अनुभव करो। क्या तुम अनुभव करते हो ? देव और ऋषियों के करोड़ों वंशज पशुतुल्य बन गये हैं। क्या तुम अनुभव करते हो कि करोड़ों देशवासी आज भूखों मर रहे हैं। और करोड़ों युगों से भूखे मरते आ रहे हैं ? क्या तुम अनुभव करते हो कि देश पर अज्ञान के काले बादल छाये हुए हैं ? क्या इस सबने तुम्हें बेचन कर दिया है ? क्या इसने तुम्हारी आंखों से नींद छीन ली हैं ? क्या यह वेदना तुम्हारे रक्त में मिलकर तुम्हारी धमनियों में पहुंच गयी है, तुम्हारे हृदय की धड़कन के साथ एकरूप हो चुकी है ? क्या इसने तुम्हें लगभग विक्षिप्त कर डाला है ? क्या सर्वनाश की इस व्यथा ने तुम्हें पूरी तरह झकझोर डाला है ? क्या तुम अपने नाम, अपने यश, अपनी पत्नी, अपने बच्चो, अपनी धन-सम्पत्ति यहां तक कि अपने शरीर को भी भुला चुके हो ?

गहरी सहानुभूति ही प्रमुख आवश्यकता

गरीबी और अज्ञान में सदा से डूबे हुए उन बीस करोड़ नर-नारियों की वेदना को अनुभव ही कौन करता है ? वे यह भी भूल गये हैं कि वे मनुष्य हैं। और उसी का

परिणाम है गुलामी। कुछ विचारशील लोगों ने विगत कुछ वर्षों में इस बात को समझ लिया है। किन्तु दुर्भाग्य से उन्होंने उसका दोष हिन्दू धर्म के मत्थे मढ़ दिया है। उनकी दृष्टि में इस स्थिति को सुधारने का एक ही मार्ग है कि संसार के इस सर्वश्रेष्ठ धर्म को कुचल डाला जाय। मेरे मित्रो, मेरी बात सुनो। ईश्वर की कृपा से मुझे इसका रहस्य पता चल गया है। धर्म इसके लिये बिलकुल दोषी नहीं है।

इसके विपरीत तुम्हारा धर्म तुम्हें बतलाता है कि सब ओर तुम्हारी आत्मा का ही विस्तार हो रहा है किन्तु इस तत्व के व्यावहारिक प्रयोग की कमी है। सहानुभूति का अभाव है, हृदय का नहीं। भगवान् एक बार पुनः बुद्ध का रूप धारण कर आये और उन्होंने सिखाया कि सहानुभुति क्या होती है; दरिद्र, दुःखी और पापी के प्रति करुणा क्या होती है? किन्तु तुमने उनकी बात भी नहीं सुनी।

संसार का कोई धर्म हिन्दू-धर्म के समान मनुष्य की महानता का इतने ऊँचे शब्दों में प्रतिपादन नहीं करता। किन्तु संसार में कोई धर्म नहीं है जो गरीबों और दुखियों की गर्दनों को इतनी बुरी तरह कुचलता भी हो जितना कि हिन्दू-धर्म। परमात्मा ने मुझे दिखा दिया है कि धर्म का कोई दोष नहीं है। किन्तु ये हिन्दू-धर्म के ठेकेदार और पुरोहित हैं, जो पारमार्थिक और व्यावहारिकता के सिद्धान्तों की आड़ में अत्याचार के नये-नये उपायों का आविष्कार करते हैं।

चिकित्सक की भावना में सेवा करो

हताश न होना; याद रखना कि भगवान् गीता में कह गये हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। (गीता २. ४७)

कर्म करना ही तुम्हारा अधिकार है, उसके फल में नहीं। कमर कसो। प्रभु ने मुझे इसी कार्य के लिये बुलाया है। सम्पूर्ण जीवन मुझे आपदाओं और कष्टों के मध्य से गुजरना पड़ा है। मैंने प्राणप्रिय आत्मीयों को लगभग निराहार मरते देखा है। मेरा उपहास उड़ाया गया है, मुझ पर अविश्वास किया गया है और जिन्होंने मेरा हंसी-मजाक बनाया, उन्हीं के प्रति सहानुभूति रखने का दण्ड मुझे भोगना पड़ा है। मित्रो, यह वही महा-कष्टों का आगार पुरुषों और, धर्म प्रवर्तकों के लिये शिक्षालय स्वरूप है, जिसमें सहानुभूति, सहिष्णुता और इन सबसे बढ़कर उस अदम्य दृढ़ इच्छाशक्ति का विकास होता है, जिसके बल पर मनुष्य सारा जगत् चूर-चूर हो जाने पर भी अपने स्थान से विचलित नहीं होता।

मुझे इन उपहास करने वालों पर दया आती है। किन्तु यह उनका दोष नहीं है। वे अभी बच्चे हैं, निरे बच्चे—यद्यपि समाज में वे बड़े गण्यमान्य समझे जाते हैं। उनकी आंखें अपने तुच्छ स्वार्थों के संकुचित घेरे से परे कुछ देख ही नही पातीं। खाना पीना, पैसा कमाना और सन्तान उत्पन्न करना यही केवल उनके नियमित कार्य हैं,

जो घड़ी की सुई के समान वे नियमित रूप से पूरे करते रहते हैं। ये बेचारे अल्प-सन्तोषी तुच्छ जीव इसके सिवा और कुछ देख ही नहीं पाते। उनकी नींद कभी टूटती ही नहीं।

सैकड़ों शताब्दियों के दमन के फलस्वरूप भारतीय वायुमण्डल में व्याप्त दुःख, दारिद्र्य और पतन की कातर कराहें उन्हें झकझोर न पायीं और उनके जीवन को कल्पना-लोक से बाहर लाने में भी समर्थ न हो सकीं। उन्होंने कभी उन युगों में झाँका ही नहीं जिनके मानसिक, नैतिक और शारीरिक अत्याचारों ने ईश्वर की प्रतिमारूपी मनुष्य को भारवाहक पशु बना डाला है; जिन्होंने माँ भगवती की प्रतिमारूपिणी नारी को केवलमात्र बच्चे पैदा करने वाली दासी में बदल डाला है, यहाँ तक कि सम्पूर्ण जीवन को ही अभिशाप बना डाला है।

क्या तुम इस निश्चेतन जनसमूह में—जिसकी समस्त नैतिक आकांक्षायें मर चुकी हैं; जिसके समस्त भावी स्वप्न मिट चुके हैं और जो अपना भला चाहनेवालों पर भी हमला करने को सदैव तैयार है—प्राण फूंक सकोगे? क्या तुम उस डाक्टर की स्थिति में रह सकोगे जो एक ठोकर मारनेवाले और गाली देने वाले बच्चे के गले में भी दवा उतारने के लिये प्रयत्नशील हो?

जापान में मैंने सुना कि वहाँ की लड़कियों का यह विश्वास है कि यदि गुड़ियों को भी पूरे हृदय से प्रेम किया जाय तो उनमें भी प्राण आ जाते हैं। इसीलिये जापानी लड़कियां कभी अपनी गुडियों को नहीं तोड़तीं। महाभाग्यवानो! मेरा भी यही विश्वास है कि यदि कोई भारत की जनता को—जो समृद्धि की कृपा से वंचित तथा ऐश्वर्य से हीन है; जिनका विवेक भ्रष्ट हो चुका है; जिसकी स्वयंप्रेरणा नष्ट हो चुकी है; जो पद-दलित, भूखी, झगड़ालू और ईर्ष्यालु है—उस जनता को हृदय से स्नेह करेगा तो यह देश पुनः उठ खड़ा होगा। भारत दोबारा तभी उठ सकेगा जब सैकड़ों विशाल हृदय युवक-युवतियाँ सुखोपभोग की समस्त कामनाओं को तिलांजलि दे अपने करोड़ों देशवासियों के, जो धीरे-धीरे दरिद्रता और अज्ञान के गहन गर्त में गिरते जा रहे हैं, कल्याण के हेतु अपनी पूरी शक्तियां लगाने का संकल्प लेंगे।

क्या तुमने उपाय खोजा?

क्या तुम सहानुभूति के भाव से भरे हो? यदि हो तो यह केवल प्रथम पग है। अगला प्रश्न है कि क्या तुम्हें रोग की कोई औषधि भी मिल गयी है? पुराने विचारों को तुम अन्धविश्वास भले ही समझो, किन्तु अन्धविश्वासों के इसी ढेर में सत्य के स्वर्ण कण भी छिपे हैं। क्या तुमने ऐसा कोई उपाय सोचा है जिसके द्वारा निस्सार-तत्व को त्यागकर इन स्वर्णकणों की रक्षा की जा सके?

शुद्ध हेतु एवं अदम्य इच्छा शक्ति

अपनी शक्तियों को केवल निरर्थक चर्चा में खर्च करने के बजाय क्या तुमने कोई मार्ग अथवा व्यावहारिक हल खोजा ? निन्दा के बदले सहायता का कोई कार्य ढूंढा ? उनकी पीड़ा में सहलाने के लिये उन्हें इस जीवित नरक से बाहर निकालने के लिये अपनाये कुछ मधुर शब्द ?

यदि तुमने यह सब कर लिया तो यह केवल दूसरा पग होगा। इसके अतिरिक्त एक और बात भी आवश्यक है तुम्हारी कर्म-प्रेरणा का मूल क्या है ? क्या तुम्हें पूर्ण निश्चय है कि तुम्हारी प्रेरणा का मूल धन-लोलुपता या प्रसिद्धि और सत्ता-लोलुपता नहीं है ?

केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। क्या तुममें हिमालय जैसी बाधाओं को पार करने वाली दृढ़ इच्छा-शक्ति है ? यदि सम्पूर्ण जगत् तुम्हारे विरुद्ध तलवार लेकर खड़ा हो जाय तब भी क्या तुम जिसे सत्य समझते हो उसे पूरा करने का साहस करोगे ? यदि तुम्हारे स्त्री-पुत्र ही तुम्हारे प्रतिकूल हो जायँ, यदि तुम्हारा सर्वस्व चला जाय, यदि तुम्हारा नाम मिट जाय, तब भी क्या तुम इस कार्य में लगे रहोगे ? फिर भी क्या तुम अपने पथ पर डटे रहोगे, अपने लक्ष्य की ओर धीरतापूर्वक बढ़ते रहोगे ? और जैसा कि राजा भर्तृहरि ने कहा है ?

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्॥
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

(भर्तृहरि नीतिशतक)

मनीषी लोग चाहे निन्दा करें चाहे स्तुति, लक्ष्मी रहे या चली जाय, आज ही मृत्यु हो या सौ वर्ष पश्चात्, किन्तु धीर पुरुष न्याय के पथ से विचलित नहीं होते।" क्या तुममें यह दृढ़ता है ?

ध्येय के प्रति पूर्ण समर्पण का संकल्प करो

यदि तुममें ये तीनों चीजें हैं तो तुममें से प्रत्येक अलौकिक कार्य कर सकता है। फिर तुमको समाचारपत्रों में लिखने की आवश्यकता नही, तुमको व्याख्यान देते फिरने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे चेहरे पर एक अपूर्व आभा विराजेगी। यदि तुम पर्वत-कन्दराओं में रहो तब भी तुम्हारे विचार पर्वत की चट्टानों को तोड़कर बाहर निकलेंगे और सैकड़ों वर्ष तक समग्र संसार में भ्रमण करते रहेंगे—तब तक, जब तक वे किसी मस्तिष्क में आश्रय न पा लें और उसके द्वारा कार्यान्वित न हो जायँ। यह है सामर्थ्य विचार-शक्ति, प्रामाणिकता और शुद्ध ध्येयवादिता का !

यह एक दिन का कार्य नहीं है। यह मार्ग अत्यन्त तीक्ष्ण काँटों से भरा है। किन्तु स्वयं पार्थसारथि (कृष्ण) हमारे सारथि बनने को तैयार हैं। हम जानते हैं कि उनमें अटल श्रद्धा के सहारे हम भारत की छाती पर युगों से एकत्र आपदाओं के पहाड़ में आग लगाने में समर्थ होंगे और वह भस्मीभूत होकर रहेगा।

पार्थ-सारथि के मन्दिर में जाओ। उसके सम्मुख मस्तक नवाओ जो गोकुल के दीन-हीन ग्वालों का सखा था, जो गुह व चाण्डाल का आलिंगन करने में कभी नहीं झिझका, जिसने अपने बुद्धावतार में कुलीनों का निमन्त्रण ठुकराकर एक वेश्या का निमन्त्रण स्वीकार किया और उस पतिता का उद्धार किया। अरे! अपने मस्तकों को उसके सामने झुकाओ और बड़ा बलिदान करो। अपना सम्पूर्ण जीवन उनके लिये बलिदान कर दो जिनके लिये ही वह समय-समय पर अवतार धारण करता है; जिन गरीबों, दलितों, हीनों को वह सबसे अधिक प्यार करता है। तब, संकल्प करो अपने सम्पूर्ण जीवन को इन तीस कोटि भारतवासियों के पुनरुद्धार के महा-यज्ञ में आहुत करने का जो दिनोंदिन पतन के गर्त में जा रहे हैं।

श्रद्धा

अतः बन्धुओ! आओ और इस समस्या की ओर निहारो। यह कितना बड़ा प्रयास होगा और हम उसकी तुलना में कितने तुच्छ! किन्तु हम प्रकाश के पुत्र हैं और ईश्वर की सन्तान। ईश्वर की कृपा से हम अवश्य सफल होंगे। इस संघर्ष में सैकड़ों धराशायी होंगे किन्तु सैकड़ों ही उनकी जगह लेने को तैयार भी रहेंगे। मैं यहां भले ही असफल रह कर मर जाऊँ किन्तु कोई दूसरा मेरा कार्य पूरा करेगा। तुम बीमारी को जान चुके हो, तुम उसका इलाज भी जानते हो। केवल आत्मविश्वास रखो। इन तथाकथित अमीरों और प्रतिष्ठितों की ओर मत निहारो. इन हृदयहीन बुद्धिवादी लेखकों की चिन्ता मत करो, न उनके द्वारा अखबारों में प्रकाशित हृदयशून्य लेखों की परवाह करो। आत्मविश्वास और सहानुभूति! प्रबल आत्मविश्वास एवं तीव्र सहानुभूति!! यही तुम्हारा एकमात्र सम्बल है। विश्वास! विश्वास!! विश्वास!!! अपने में विश्वास, ईश्वर में विश्वास—बस यही महानता का मूल मन्त्र है।

नचिकेता की श्रद्धा तुम में प्रविष्ट हो

जिसको स्वयं पर विश्वास नहीं, वही नास्तिक है। तुममें से जिन लोगों ने समस्त उपनिषदों में अति सुन्दर कठोपनिषद् का अध्ययन किया है, उन्हें स्मरण होगा कि किस प्रकार उस राजा ने एक विशाल यज्ञ का अनुष्ठान किया था, किन्तु दक्षिणा में छांट-छांट कर वह ऐसी बूढ़ी गायों एवं घोड़ों को दे रहा था जो किसी काम के नहीं रह गये थे। [कथा के अनुसार उसके पुत्र नचिकेता को पिता का यह कृत्य नही

रखा। उसने पिता से पूछा : "आप मुझे किसे देंगे ?" वार-बार ऐसा पूछने पर पिता ने झुंझला कर उत्तर दिया; "मैं तुझे यम को दूंगा।"—सं०] उक्त ग्रन्थ में यह भी लिखा है कि उस समय श्रद्धा ने उसके पुत्र नचिकेताके अन्तःकरण में प्रवेश किया। अब हम देखें कि उसने (श्रद्धा ने) किस प्रकार कार्य किया, क्योंकि उसके प्रवेश के दूसरे ही क्षण हम नचिकेता को स्वयं से यह कहते हुए सुनते हैं :

बहुनामेमि प्रथमो बहुनामेमि मध्यमः।
किं स्विद्यमस्य कर्त्तव्यं मन्मयाद्य करिष्यति ॥

(कठ उ० १. १. ५)

"मैं अनेकों से श्रेष्ठ हूं, थोड़े मुझसे भी श्रेष्ठ हैं किन्तु मैं किसी भी प्रकार सब से हीन नहीं हूं। अतः मैं कुछ न कुछ कर सकता हूं।"

उसका यह आत्मविश्वास बढ़ता गया और जो समस्या उसके मन में थी, उस बालक ने उसे हल करना चाहा। वह समस्या थी मृत्यु की। इस समस्या का हल केवल मृत्यु के घर जाकर ही प्राप्त हो सकता था, अतः वह बालक वहीं गया। वहां उस निर्भीक बालक नचिकेता ने मृत्यु के द्वार पर तीन दिन प्रतीक्षा की और तुम जानते ही हो कि किस प्रकार उसने अपनी अभीप्सित वस्तु प्राप्त की।

इसी श्रद्धा को तुम सब प्राप्त कर लो। पश्चिमी जातियों के द्वारा भौतिक सत्ता का जो कुछ प्रकटीकरण तुम्हें दिखायी दे रहा है, वह इस श्रद्धा का ही परिणाम है क्योंकि उन्हें अपनी कर्म शक्ति पर विश्वास है। फिर, यदि तुम भी अपनी अध्यात्मिक शक्ति पर आस्था रखो तो उससे भी कितना ही अधिक कार्य कर सकते हो !

यही श्रद्धा है जो मैं चाहता हूं और हम सब उसी के, अर्थात् आत्मविश्वास के भूखे हैं। उस श्रद्धा को प्राप्त करना ही तुम्हारे सामने बड़ा कार्य है। प्रत्येक चीज का उपहास उड़ाने की—गम्भीरता के भारी अभाव की इस भयानक बीमारी के चंगुल से बचो जो हमारे राष्ट्रीय शोणित में घुसती जा रही है। इसको त्याग दो। वीर बनो, श्रद्धा-सम्पन्न बनो। अन्य सब बातें इनके पीछे-पीछे अपने आप चली आयेंगी।

वैराग्य परम आवश्यक गुण

काम में लग जाओ। तब तुम अपने अन्दर इतनी प्रचण्ड शक्ति का जागरण पाओगे कि उसे धारण करना भी तुम्हें कठिन जान पड़ेगा। अन्यों के लिये किये गये अत्यल्प कार्य से भी आन्तरिक शक्तियों का जागरण होता है। यहां तक कि अन्यों के प्रति शुभ चिन्तन से भी शनैः-शनैः हृदय में सिंह की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

आवश्यक वस्तु है वैराग्य। वैराग्य के बिना कोई भी अपने सम्पूर्ण अन्तःकरण को परोपकार में नहीं उड़ेल सकता। विरागी मनुष्य ही सबको समान दृष्टि से देखता है और सबकी सेवा में अपने को लगा सकता है।

सेवा से ही मुक्ति

अतः वैराग्य धारण करो। तुम्हारे पूर्वजों ने महान् कार्य करने के लिये संसार को त्याग दिया था। वर्तमानकाल में भी ऐसे लोग हैं जो अपनी व्यक्तिगत मुक्ति के लिए संसार से विरक्त हो जाते हैं। सब बातों को त्याग दो, यहां तक कि अपनी मुक्ति का विचार भी त्याग दो और दूसरों की सहायता करो।

कुछ समय के लिये अन्य सब देवताओं को अपनी दृष्टि से ओझल कर दो। बस यही एक देवता, हमारा अपना समाज, अहर्निश हमारी आँखों के समक्ष प्रत्यक्ष है। सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पैर, और सब ओर उसके कान। वह सब ओर व्याप्त है। समझ लो कि अन्य सब देवता सो रहे हैं। उन व्यर्थ देवताओं के पीछे तो हम दौड़े किन्तु इस देवता की, इस विराट पुरुष की, जिसे हम अपने चारों ओर देख रहे हैं क्यों न पूजा करें ? जब हम इसकी पूजा कर लेंगे तभी हम अन्य देवताओं की पूजा करने के योग्य होंगे।

मुक्त वही है जिसने अपना सब कुछ दूसरों के लिए त्याग दिया। किन्तु जो दिन रात 'मेरी मुक्ति' 'मेरी मुक्ति,' का राग अलापने में ही अपने मस्तिष्क को खराब करते हैं वे अपने वर्तमान और भावी कल्याण का नाश कर व्यर्थ ही इधर-उधर भटकते रहते हैं।

आज आवश्यकता है चित्तशुद्धि की, अन्तःकरण की निर्मलता की। किन्तु वह कैसे हो ? सबसे पहले उस विराट की पूजा करो जो हमारे चारों ओर विद्यमान है। उस की पूजा करो। ये सब हमारे देवता हैं-- केवल मनुष्य ही नहीं ; तो पशु भी। इनमें भी सबसे पहले पूजा करो अपने देशवासियों की।

हमें चाहिये त्यागी और समाजसेवी लोग

भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं—सेवा और त्याग। इन्हीं मार्गों से उनकी भावनाओं को तीव्र करो, शेष सब अपने आप ठीक हो जायगा। इस देश में अध्यात्मिकता का महात्म्य चाहे जितना गाओ, वह कम ही है। इसी में मुक्ति निहित है।

मैं चाहता हूँ लौह पेशियां और इस्पात के स्नायु जिनके भीतर उसी धातु का बना मानस रहता है, जिनका वज्र बनाया जाता है। शक्ति, पौरुष, क्षात्र-वीर्य-ब्रह्मतेज। हमारे सुन्दर एवं होनहार युवकों के पास ये सब चीजें हैं—यदि केवल उन्हें उस क्रूरता की वेदी पर—जिसे वे विवाह कहते हैं—बलि न किया जाय। हे भगवान मेरी पुकार सुनो !

कुछ को इससे (विवाह से) बचा रहने दो। उन्हें केवल ईश्वर के लिये जीने दो, ताकि वे दुनिया के लिये धर्म की रक्षा कर सकें। राजा जनक के जैसा होने का ढोंग मत करो जब कि तुम केवल सपनों के जनक हो। (जनक शब्द का अर्थ है

'निर्माता' और यह नाम एक राजा का था, जिसने केवल प्रजापालन के हेतु राजपद ग्रहण किया था और सब आसक्तियों को त्याग दिया था ।) ईमानदार बनो और कहो, 'मुझे आदर्श दिखायी तो पड़ता है किन्तु अभी मैं इसके निकट नहीं पहुँच सकता ।" किन्तु यदि तुम विरागी नहीं हो तब उसका दिखावा मत करो । यदि तुमने वैराग्य धारण किया है तो दृढ़तापूर्वक डटे रहो । यदि लड़ाई में सैकड़ों गिर चुके हों तब भी पताका को थाम लो और उसे लेकर आगे बढ़ो । ईश्वर सबका साक्षी है । चिन्ता मत करो कौन गिरता है । जो गिरने लगे वह पताका को केवल दूसरे हाथों में थमा दे तब वह कभी नहीं गिर पायेगी ।

—एक लाख नर और नारी—पवित्रता की अग्नि में तपे हुए, भगवान् में अटूट विश्वास से सम्पन्न और दीनों, दलितों तथा पतितों के प्रति सहानुभूति में सिंहवत् साहस से युक्त—सम्पूर्ण देश के एक कोने से दूसरे कोने तक मुक्ति का सन्देश, सेवा का सन्देश, सामाजिक उत्थान का सन्देश, समता का सन्देश फैलायेंगे ।

भगवान् के सेवक बनकर कर्मक्षेत्र में उतरो

बार बार हमारा देश पतन के गर्त में गिरा है और बार-बार भगवान् ने अवतार लेकर उसका पुनरुद्धार किया है ।

मृतक कभी वापस नहीं आते, बीती हुई रात दोबारा नहीं आती, गुजरी हुई ज्वार की लहर फिर-फिर नहीं उठती, न ही मनुष्य उसी देह को पुनरपि पाता है । अतः ओ मनुष्य ! हम तुम्हें मृत अतीत की उपासना से हटाकर जीवित वर्तमान की पूजा के लिये आमंत्रित कर रहे हैं । बीती बातों का रोना रोने की अपेक्षा हम तुम्हें वर्तमान की गतिविधियों में लगने का आह्वान कर रहे हैं । भूली-बिसरी एवं भग्न पगडंडियों की खोज में कार्य शक्ति नष्ट करने के बजाय हम तुम्हें पुकार रहे हैं, नवनिर्मित विशाल पथ पर चलने के लिए, जो कि तुम्हारे सम्मुख फैला हुआ है । जो बुद्धिमान है, वह इस बात को समझ ले ।

जिस दिव्य शक्ति के प्रथम स्पर्श से ही सम्पूर्ण विश्व में सब ओर महातरंगे उठने लगी हैं, उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति की जरा अपने मस्तिष्क में कल्याणमयी कल्पना करो और वृथा सन्देह, दुर्बलता और दासजाति-सुलभ ईर्ष्या-द्वेष का परित्याग कर, इस महायुग-चक्र प्रवर्तन में सहायक बनो ।

—हृदय में यह प्रबल धारणा लेकर कि तुम परमात्मा के दूत हो, उसकी सन्तान हो, उसके उद्देश्यों की पूर्ति में निमित्त-मात्र हो, कर्मक्षेत्र में कूद पड़ो ।

—:o:—

पुनरुत्थान का कार्य—१

नींव-निर्माण

जो हमारी समग्र जाति के सृष्टिकर्ता और रक्षक हैं, जो हमारे पूर्वजों के उपास्य हैं, चाहे उन्हें विष्णु कहें, या शिव या शक्ति या गणपति, वे कोई भी हों सगुण या निर्गुण; साकार या निराकार; जिन्हें हमारे पूर्व-पुरुषों ने 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' मन्त्ररूप में जाना और पुकारा, वे अपना अनन्त प्रेम लेकर हमारे अन्दर प्रवेश करें—हमारे ऊपर अपने शुभाशीर्वाद की वर्षा करें, ताकि उनकी कृपा से हम एक दूसरे को समझ सकें, वह हमें एक दूसरे के लिये सच्चे स्नेह, सत्य के लिये तीव्र प्रेम के साथ कार्य करने की प्रेरणा दें और भारत की आध्यात्मिक उन्नति के लिए किये जाने वाले इस महाकार्य के अन्दर हमारे व्यक्तिगत यश, व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा व्यक्तिगत गौरव की अणुमात्र आकांक्षा को भी प्रवेश न करने दें।

हम अन्य देशों को भी देखें, परखें

प्राचीन काल में हमारे देश में आध्यात्मिक भाव की अत्यधिक उन्नति हुई थी। हम आज उसी प्राचीन गौरव गाथा को स्मरण करें। किन्तु सुदूर अतीत की महानता का अतिशय चिन्तन करने में भारी खतरा यह है कि कहीं हम नवीन कार्यों के लिए प्रयत्न करना बन्द न कर दें और केवल अपने प्राचीन गौरव के स्मरण-कीर्तन में ही सन्तोष मानकर अपने को सर्वश्रेष्ठ न समझने लगें। इस खतरे से हमें सावधान रहना होगा।

भारत के लिए अपने अन्तःकरण में अगाध प्रेम लेकर अपनी समस्त देशभक्ति और पूर्वजों के प्रति अगाध श्रद्धा के रहते हुए भी मैं अपना यह विचार कदापि नहीं त्याग सकता कि अन्य राष्ट्रों से हमें बहुत कुछ सीखना है। हमें सबके चरणों में बैठ कर शिक्षा ग्रहण करने के लिये हर समय तत्पर रहना चाहिये, क्योंकि ध्यान रखो, कि हर कोई हमें महान् शिक्षा दे सकता है। किन्तु साथ ही यह भी न भूलना चाहिये कि संसार को हम भी कोई महान् शिक्षा दे सकते हैं।

भारत से बाहर के देशों से सम्बन्ध जोड़े बिना हमारा कार्य नहीं चल सकता। इसके विपरीत विचार रखना हमारी मूर्खता थी और उसी के दण्ड-स्वरूप हमें हजार वर्षों तक दासता भोगनी पड़ी। भारतीय मस्तिष्क के वर्तमान पतन का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि न तो हमने विदेशों में जाकर अपनी चीजों की उनसे तुलना की और न ही हमने संसार के अन्य क्षेत्रों की गतिविधियों का अध्ययन किया। उसकी यथेष्ट सजा हमें मिल चुकी। अतः अब आगे उस भूल को हम न दुहराये।

"भारतीय को भारत के बाहर कहीं नहीं जाना चाहिए"—इस प्रकार के मूर्खता-पूर्ण विचार निरे बचकाने हैं। उनकी सदा-सर्वदा के लिए कपाल-क्रिया कर दो। जितना अधिक तुम भारत के बाहर अन्यान्य देशों में घूमोगे, उतना ही तुम्हारे और तुम्हारे देश के लिए हितकर होगा। यदि तुमने विगत सैकड़ों वर्षों में भी यह किया होता तो तुम आज भारत पर शासन करने के इच्छुक प्रत्येक राष्ट्र के चरणों पर गिरने की स्थिति में दिखायी न देते।

जिन्दा रहना है तो विस्तार करो

जीवन का पहला और स्पष्ट लक्षण है विस्तार। यदि तुम जीवित रहना चाहते हो तो तुम्हें फैलना ही होगा। जिस क्षण तुम जीवन का विस्तार बन्द कर दोगे उसी क्षण से जान लेना कि मृत्यु ने तुम्हें घेर लिया, विपत्तियाँ तुम्हारे सामने हैं। मैं योरोप और अमेरिका गया था। मुझे वहाँ जाना पड़ा, क्योंकि राष्ट्रीय जीवन के शुभ जागरण का यही तो लक्षण है—विस्तार। इस पुनर्जागरित राष्ट्रीय जीवन की आन्तरिक विस्तार-भावना ने ही मुझे दूर वहां फेंक दिया और सहस्त्रों अन्य उसी मार्ग पर फेंके जायेंगे। मेरे शब्दों को ध्यान से सुनो। यदि यह राष्ट्र थोड़ा भी जीवित है तो यह होकर रहेगा। अतएव यह विस्तार हमारे राष्ट्रीय जीवन के पुनरुत्थान का सर्व प्रधान लक्षण है और इसी विस्तार के साथ-साथ मानव ज्ञान की समष्टिगत पूंजी में तथा समग्र विश्व के उत्थान-कार्य में हमारा जो योगदान होना चाहिये वह भी बाहरी विश्व में पहुंच रहा है।

और यह कोई नया काम नहीं है। आप लोगों में से जिनकी यह धारणा हो कि हिन्दू अपने देश की चहारदीवारी के भीतर ही चिर काल से पड़े रहे हैं, वे भारी भूल कर रहें हैं। इसका अर्थ है कि तुमने अपना प्राचीन वाङ्गमय नहीं पढ़ा है। तुमने अपने जातीय इतिहास का ठीक-ठीक अध्ययन नहीं किया है।

जीवन दान करोगे, तो जीवन दान पाओगे

हरेक राष्ट्र को अपने अस्तित्व रक्षा के लिये दूसरों को कुछ देना ही होगा। तुम जीवन दोगे तो पाओगे भी। दूसरों से पाओगे तो उसके मूल्य स्वरूप अन्य सभी को

देना भी होगा। हम सहस्रों वर्षों से जीवित हैं यह एक ऐसा तथ्य है जिसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते और जो एक गूढ़ प्रश्न बनकर हमारी ओर निहारने लगता है। इसका एक मात्र उत्तर यही है कि हम सदैव बाहरी दुनिया को उपहार देते रहे हैं। मूर्ख भले ही चाहे जो सोचें किन्तु भारत ने सदैव धर्म, दर्शन-ज्ञान और अध्यात्मिकता का ही उपहार दिया है।

अस्तु, हमें भारत के बाहर जाना ही होगा और अपनी अध्यात्मिकता के बदले में जो कुछ उनके पास देने योग्य है, उसे ग्रहण करना होगा। आत्मजगत के चमत्कारों के बदले हम उनसे भौतिक जगत के चमत्कारों का विनिमय करेंगे। हम सदैव उनके शिष्य ही नहीं बने रहेंगे, अपितु गुरु भी बनेंगे। समभाव के अभाव में कभी मित्रता नहीं हो सकती, वहां समानता नहीं रह सकती जहां एक पक्ष सदैव शिक्षक बना रहे और दूसरा सदैव उसके चरणों में बैठे। यदि तुम अंग्रेज और अमेरिकन जाति के समान स्तर पर पहुंचना चाहते हो तो तुम्हें उनसे शिक्षा प्राप्त करने के साथ-साथ उन्हें कुछ सिखाना भी होगा। अब भी आगामी अनेक शताब्दियों तक संसार को सिखाने लायक तुम्हारे पास बहुत कुछ है।

हमें पश्चिम से बहुत कुछ सीखना है

यदि हम ऊपर उठना चाहते हैं तो हमें याद रखना होगा कि हमें पश्चिम से अनेक बातें सीखनी हैं। पाश्चात्य देशों से हमें उनके शिल्प और विज्ञान सीखने होंगे।

अतः यह अध्यात्मिकता ही ऐसी चीज है जो तुम्हें संसार को सिखानी है। शायद दूसरी जातियों से हमें भौतिक ज्ञान, संगठन कला, विभिन्न शक्तियों के उपयोग की कला, संगठन क्षमतायें तथा थोड़े यत्न से अधिक लाभ प्राप्त करने का तन्त्र आदि बातें ग्रहण करनी होंगी।

अनुकरण ही सभ्यता नहीं है

दूसरे का अनुकरण करना सभ्यता या उन्नति का लक्षण नहीं है। यह एक दूसरा पाठ है जो हमें सदैव स्मरण रखना चाहिये। यदि मैं स्वयं को राजा की पोशाक में सजा लूं तो क्या मैं इतने से ही राजा बन जाऊंगा ? सिंह की खाल ओढ़कर गधा कभी सिंह नहीं हो सकता। कायरतापूर्ण अनुकरण कभी उन्नति का कारण नहीं बन सकता। यह निश्चय ही मनुष्य के घोर अधःपतन का लक्षण है। जब मनुष्य स्वयं से ही घृणा करने लगता है तब समझना चाहिये कि मृत्यु उसके द्वार पर आ पहुंची है।

हिन्दू होने का गर्व करो

जब कोई मनुष्य अपने पूर्वजों के बारे में ही लज्जित होने लगे तब समझ लो कि उसका अन्त आ गया। मैं यद्यपि हिन्दू जाति का एक नगण्य घटक हूं किन्तु मुझे

अपनी जाति पर गर्व है, अपने पूर्वजों पर गर्व है। मैं स्वयं को हिन्दू कहने में गर्व का अनुभव करता हूं। मुझे गर्व है कि मैं आप लोगों का एक तुच्छ सेवक हूं। तुम ऋषियों की सन्तान हो, तुम्हारा देशवासी कहलाने में मैं अपना गौरव मानता हूं। तुम उन महनीय ऋषियों के वंशज हो जो संसार में अद्वितीय रहे हैं।

अन्यों से जो लें उसे अपने सांचे में ढाल लें

अतएव, आत्मविश्वासी बनो। अपने पूर्वजों पर गर्व करो, उनके नाम से लज्जित मत होओ और अनुकरण मत करो, मत करो। जब कभी तुम दूसरे की प्रभुता स्वीकार करोगे, तभी तुम अपनी स्वाधीनता खो बैठोगे। यहां तक कि अध्यात्मिक क्षेत्र में भी यदि तुम केवल दूसरों के आदेशानुसार चलोगे तो धीरे-धीरे तुम्हारी समस्त प्रतिभा—चिन्तनप्रतिभा भी समाप्त हो जायगी। अपने पुरुषार्थ से अपनी आन्तरिक शक्तियों को विकसित करो। किन्तु अनुकरण मत करो। हां, दूसरों के पास अगर कुछ श्रेष्ठ है तो उसे ग्रहण कर लो। औरों के पास से भी हमें कुछ सीखना ही है।

बीज को धरती में बो दो और उसे पर्याप्त मिट्टी, हवा तथा जल पोषण के लिये जुटा दो। किन्तु जब वह बीज पौधा बनता है, एक विशाल वृक्ष में परिणत हो जाता है तो क्या वह मिट्टी बन जाता है, हवा बनता है, जल का रूप धारण कर लेता है? नहीं, वह बीज, मिट्टी, जल आदि जो भी पदार्थ उसके चारों ओर थे उनसे अपना पोषण रस खींचकर अपनी प्रकृति के अनुकूल एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। यही तुम्हारा आदर्श रहना चाहिये।

सब जगह से अच्छी बातें लो

सचमुच! हमें अन्यों से अनेक बातें सीखनी हैं। और, जो सीखना नहीं चाहता, वह तो पहले ही मर चुका। महर्षि मनु ने घोषणा की थी :—

आददीत परां विद्यां प्रयत्नादवरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥ (मनुस्मृ० २,२३८)

"श्रद्धापूर्वक नीच से भी अच्छी विद्या को, चाण्डाल से भी परम धर्म को और नीच कुल से भी स्त्रीरत्न को ग्रहण करे।"

अतः औरों के पास से जो कुछ अच्छा पाओ, अवश्य सीखो। किन्तु उसे इस प्रकार लो कि वह तुम्हारी प्रकृति के अनुकूल ढल जाये। कहीं तुम ही पराये न बन बैठो। स्वयं को इस भारतीय जीवनधारा से बाहर मत निकलने दो। एक क्षण के लिये भी यह मत सोचो कि कितना अच्छा होता यदि सब भारतीय किसी अन्य जाति के समान खाते-पीते और वेश-भूषा धारण करते।

भारतीय जीवन-धारा को अबाध बहने दो

कुछ वर्षों में बनी आदत को छोड़ने में कितनी कठिनाई होती है, यह तुम भली-भांति जानते हो। भगवान ही जानते होंगे कि कितने शतसहस्र वर्षों से यह विशिष्ट-राष्ट्रीय जीवन-धारा तुम्हारे रक्त में एक विशेष दिशा की ओर बह रही है। इसे वे परमपिता ही जान सकते हैं कि तुम्हारे खून के अन्दर कितने हजार वर्षों से ये संस्कार जमे हुये हैं और क्या तुम यह कहना चाहोगे कि भागीरथी की यह प्रचण्ड धारा जो अपने गन्तव्य समुद्र के लगभग निकट पहुंच चुकी है, अब पुन: हिमालय में अपने आदि स्रोत हिमशिखरों पर वापिस जा सकेगी ? यह असम्भव है ! ऐसा करने का प्रयास करोगे तो यह धारा खण्डित हो जायेगी।

अतएव, इस राष्ट्रीय जीवन-धारा को पूर्ववत् बहने दो। इस शक्तिमान धारा की प्रगति में बाधक अवरोधों को हटाओ, उसका पथ प्रशस्त करो, और तब अपनी स्वाभाविक गति से यह आगे बढ़ेगी। तभी यह राष्ट्र अपनी सर्वांगीण उन्नति करते हुए अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर बढ़ेगा।

हम भारतवासी बहुत परिमाण में विदेशी भावापन्न हो गये हैं। ये विदेशी भाव हमारे राष्ट्रीय धर्म के जीवन-रस को चूसे डाल रहे हैं। हम आज इतने पिछड़े हुये क्यों हैं ? क्यों हममें से निन्नानवे प्रतिशत लोग पूर्णतया विदेशी विचारों और भावों से भरे हुए हैं ? इन्हें हमें फेंकना ही होगा यदि हम संसार के अन्य राष्ट्रों की दृष्टि में ऊँचे उठना चाहते हैं।

किसी का दोष नहीं, अपने कर्मों को दोष दो

मित्रो ! मैं आपको कुछ खरी-खरी बातें भी सुनाना चाहता हूँ। मैं समाचार-पत्रों में पढ़ता हूँ कि जब कभी कोई अंग्रेज हमारे किसी स्वदेशवासी को मार डालता है अथवा उसके साथ दुर्व्यवहार करता है तब सम्पूर्ण देश में हो-हल्ला मच जाता है। मैं यह पढ़ता हूँ तो रोता हूँ। किन्तु दूसरे ही क्षण मेरे मस्तिष्क में प्रश्न उठता है कि आखिर इस सबके लिये जिम्मेदार कौन है ? चूंकि मैं वेदान्ती हूँ अत: मैं अपने से यह प्रश्न पूछे बिना नहीं रह सकता। हिन्दू सदा से आत्म-निरीक्षणकारी रहा है। वह सब चीजों को अपने में व अपने द्वारा ही देखना चाहता है। अतएव मैं अपने से पूछा करता हूं कि इसके लिये उत्तरदायी कौन है ? और प्रत्येक बार एक ही उत्तर आता है, "अंग्रेज नहीं हैं। नहीं, वे इसके लिये कदापि उत्तरदायी नहीं हैं। अपनी इस समस्त दुरवस्था के लिये, इस अवनति के लिये हम स्वयं ही उत्तरदायी हैं। हमारे सिवा इसके लिये कोई अन्य दोषी नहीं है।

वेदान्तिक होने के नाते हम यह निश्चयपूर्वक जानते हैं कि अगर पहले हम ही अपने को हानि न पहुँचायें, तो संसार में कोई ऐसी शक्ति नहीं जो हमें हानि पहुंचा

सके। भारत की एक पंचमांश जनसंख्या मुसलमान बन गई। दस लाख से अधिक व्यक्ति ईसाई हो गये। यह किसकी भूल है ? प्रश्न यह है, "इन लोगों के लिये, जिन्होंने अपना धर्म त्याग दिया, हमने किया ही क्या था ? वे मुसलमान बने ही क्यों ?"

अब हम इन धर्मभ्रष्टों के लिये आंसू बहा रहे हैं, किन्तु उनके लिये हमने पहले क्या किया था ? हममें से प्रत्येक को यह प्रश्न अपने से पूछना चाहिये। हमने क्या सीखा ? क्या हमने सत्य की मशाल अपने हाथों में ली, और यदि ली तो उसके प्रकाश में हम कितनी दूर आगे बढ़े ? तब हमने उनकी सहायता क्यों नहीं की थी ? यही प्रश्न है जो हमें स्वयं से पूछना चाहिये। हमने ऐसा नहीं किया यह हमारी भूल थी, हमारा अपना कर्म था। अतः किसी को दोष न दें, बल्कि अपने कर्मों को ही दोष दें।

दुर्बल शरीर को ही रोग सताते हैं

जड़वाद अथवा इस्लामवाद, ईसाईयत या संसार का अन्य कोई भी 'वाद' यहाँ कदापि सफल नहीं हो सकता था, यदि तुम स्वयं उनके लिये दरवाजा न खोल देते। कोई कीटाणु मानव-शरीर पर तब तक आक्रमण नहीं कर सकता जब तक कि वह शरीर ही पापकर्मों, दूषित आहार-विहार एवं अभावों आदि के कारण दुर्बल और पतित न हो गया हो। स्वस्थ मनुष्य का सब तरह के विषैले कीटाणुओं के बीच में रहने पर भी बाल-बाँका नहीं हो सकता।

हम जानते हैं कि किसी बीमारी के फैलने के दो कारण होते हैं—एक तो बाहर से कुछ विषैले कीटाणुओं का प्रवेश, दूसरा शरीर की अवस्था विशेष। जब तक शरीर ही ऐसी अवस्था में नहीं पहुँच चुका है कि कीटाणुओं का उसमें प्रवेश सुगम हो जाय, अथवा जब तक शरीर की जीवनी शक्ति इतनी क्षीण नहीं हो चुकी है कि कीटाणु शरीर में घुसकर पलते-बढ़ते रहें तब तक संसार के किसी कीटाणु में इतना सामर्थ्य नहीं कि वह शरीर में कोई रोग पैदा कर सके। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य के शरीर के भीतर लाखों कीटाणुओं का सतत आवागमन चलता रहता है किन्तु जब तक शरीर बलवान है, उसे उनका पता भी नहीं चलता। जब शरीर कमजोर हो जाता है तभी ये विषैले कीटाणु उस पर अपना अधिकार जमा लेते हैं और उसे रोगी बना देते हैं। बिलकुल ऐसा ही राष्ट्रीय-जीवन के साथ भी होता है।

जब कभी राष्ट्रीय जीवन दुर्बल हो जाता है, तभी सभी प्रकार के रोग-जीवाणु उस राष्ट्र के शरीर में घुस जाते हैं और उसके राजनीतिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक अथवा बौद्धिक जीवन को रुग्ण बना देते हैं। अतएव उसकी चिकित्सा के लिये हमें इस बीमारी की जड़ तक पहुँचना चाहिये और रक्त को समस्त अशुद्धताओं से मुक्त करना चाहिये। इसका एकमेव मार्ग यही होगा कि मनुष्य को बलवान बनायें, उसके रक्त

को शुद्ध करें और शरीर को पुष्ट करें। ताकि वह समस्त बाह्य विषों का प्रतिरोध कर उन्हें पराजित कर सके।

बन्धुओ ! हमें यह जानकर लज्जित होना चाहिये कि वे अधिकांश वास्तविक दोष, जिनके कारण विदेशी जातियाँ हिन्दू-राष्ट्र से अनुचित लाभ उठा सकीं, हमारी अपनी ही देन हैं। भारत में विदेशी जातियों के मत्थे अनेक वृथा लांछनों को आरोपित करने में हम ही कारण बने हैं।

यह हास्यास्पद स्थिति

हम कितनी हास्यास्पद स्थिति को प्राप्त हो गये हैं ? यदि कोई भंगी, भंगी के रूप में ही किसी के पास आता है तो उसे प्लेग के समान दुत्कारा जाता है। किन्तु जब कोई पादरी कुछ मन्त्र पढ़कर उसके सिर पर थोड़ा जल छिड़ककर उसका धर्म-परिवर्तन कर लेता है और उसे एक कोट पहना देता है, चाहे वह कितना ही फटा हो और तब यदि वह बड़े से बड़े कर्मकाण्डी हिन्दू के कमरे में प्रवेश करे तो मुझे ऐसा कोई व्यक्ति नहीं दिखाई देता जो उसे तुरन्त बैठने के लिये कुर्सी न दे और तपाक से उससे हाथ न मिलाये। इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है ?

जरा पतन की विगत छह-सात शताब्दियों का स्मरण करो जब कि सैकड़ों सयाने व्यक्ति वर्षों तक केवल इस विषय पर बहस करते रह गये कि वे पानी का गिलास दाहिने हाथ से पियें अथवा बायें हाथ से; हाथों को तीन बार मांजें अथवा चार बार।

यह बौद्धिक जड़ता !

जिनके मस्तिष्क की प्रवृति ऐसी छोटी-छोटी बातों में परेशान रहने की है कि घंटी दाहिनी ओर बजे या बायीं ओर, चन्दन मस्तक पर लगाया जाय या अन्य कहीं, आरती दो वार उतारी जाय या तीन वार—उन्हें केवल 'घृणित' संज्ञा से ही पुकारा जा सकता है। जिनके मस्तिष्कों में इस मूर्खता के अतिरिक्त अन्य किसी चीज का प्रवेश ही नहीं हो सकता, उन्हें केवल 'जड़बुद्धि' ही कहा जा सकता है। इन भ्रान्त धारणाओं का ही फल हुआ कि भाग्य ने हमारा साथ छोड़ दिया, हमें ठोकरें लगायीं; और हम पर थूका जब कि पाश्चात्य लोग संसार के स्वामी बन बैठे।

मौलिकता, तेजस्विता एवं कर्मण्यता का अभाव

ऐसे लोगों से, जो इन क्षणिक प्रश्नों पर तर्क-वितर्क करने में ही अपना सम्पूर्ण जीवन गुजार दें और जो उन पर अति-पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना कर डालें, तुम क्या अपेक्षा कर सकते हो ?

"यदि एक आलू बैंगन से छू जाय तो सृष्टि के प्रलय होने में कितना समय और रह जायगा ?" "यदि कोई हाथों को बारह बार मिट्टी से न मांजे तो उसके पूर्वजों

की चौदह पीढ़ियाँ नरक में जायेंगी या चौबीस ?" ऐसे प्रश्नों के वैज्ञानिक उत्तरों को खोजने में ही ये लोग विगत दो हजार वर्षों में भटकते रहे हैं जब कि एक चौथाई जनसंख्या भूखों मरती रही है।

एक आठ वर्ष की कन्या का विवाह तीस वर्ष के प्रौढ़ के साथ कर दिया जाता है और उस कन्या के माता पिता इस पर खुशी मनाते हैं। यदि कोई इसका विरोध करता है तो तर्क दिया जाता है कि "ऐसा न करने से हमारा धर्म उलट जाता।" आखिर उनका यह धर्म है किस तरह का, कि वे वय प्राप्त होने के पूर्व ही अपनी कन्या को माता बनते हुए देखना अच्छा समझते हैं और इसके लिये अनेक कारण प्रस्तुत करते हैं ? कई लोग इन बातों का दोष भी मुसलमानों के मत्थे मढ़ना चाहते हैं। क्या सचमुच उन्हें दोष देना उचित है ?

हमारे धर्म के लिये भय यही है कि वह अब चूल्हे में घुसना चाहता है। हममें से अधिकांश मनुष्य इस समय न तो वेदान्तिक हैं न पौराणिक और न तान्त्रिक। हम केवल "मत छुओ-वादी" रह गये हैं। हमारा धर्म चूल्हे में घुस गया है। "भात की हाण्डी" हमारा ईश्वर है और धर्म है 'हमें मत छुओ, हम पवित्र हैं।" यदि यह भाव एक शताब्दी तक और चलता रह गया, तो हममें से हरेक का स्थान पागलखाने में होगा।

जब मस्तिष्क जीवन की उच्चतर समस्याओं का विचार करने में असमर्थ हो जाय तब समझना चाहिए कि यह उसकी दुर्बलता का लक्षण है, उसकी मौलिकता पूर्णतः नष्ट हो चुकी है, मस्तिष्क बिल्कुल शक्तिहीन हो गया है, उसकी गतिशीलता, चिन्तनशक्ति नष्ट हो चुकी है और फिर वह छोटी से छोटी सीमा के भीतर ही चक्कर लगाने की कोशिश करता है।

रूढ़िवादी अन्धविश्वास और नूतन जड़वाद से बचो

हमें एक विषम स्थिति में से अपना मार्ग निकालना है। यदि एक ओर प्राचीन रूढ़िवादी अन्धविश्वासों की गहरी खाई है तो दूसरी ओर योरोपीयता अर्थात् जड़वाद का गहरा कुआँ है ......

आज हमें एक ओर वह मनुष्य दिखता है जो पाश्चात्य ज्ञान-रूपी मदिरापान से उन्मत्त होकर अपने को सर्वज्ञ समझता है। वह प्राचीन ऋषियों की हंसी उड़ाया करता है। उसके लिये हिन्दुओं के सब विचार बिल्कुल वाहियात चीज हैं, हिन्दू दर्शनशास्त्र बच्चों की बोली है, और हिन्दू धर्म मूर्खों का कुसंस्कार मात्र है।

दूसरी ओर, एक वह आदमी है जो शिक्षित तो है, पर एक प्रकार से विकृत मस्तिष्क है। वह बिल्कुल भिन्न धरा पर चलता है, हर एक छोटी सी बात का अलौकिक अर्थ निकालने का प्रयत्न करता है। अपनी विशिष्ट जाति या देव-देवियों

या गांव से सम्बन्ध रखने वाले जितने अन्धविश्वास हैं उनके लिये उसके पास दार्शनिक, अध्यात्मिक तथा बच्चों को सुहाने वाले अर्थ सर्वदा ही मौजूद हैं। उसके लिए प्रत्येक ग्राम्य अन्धविश्वास वेदों की आज्ञा है, और उसकी समझ में उन्हें कार्यरूप में परिणत करने पर ही राष्ट्रीय जीवन निर्भर है। तुम्हें इन दोनों से बचना चाहिये।

जो मस्तिष्क श्रेष्ठ एवं उदात्त विचारों को धारण नहीं कर सकता, जो अपनी मौलिक विचार-शक्ति को खो चुका है, जिसका पौरुष नष्ट हो चुका है तथा जो मस्तिष्क धर्म के नाम पर सब प्रकार के क्षुद्र अंधविश्वासों द्वारा स्वयं को विषाक्त करता रहता है उससे हमें सावधान रहना चाहिए।

दुर्बलता के लक्षण

चमत्कारप्रियता एवं अन्धविश्वास ये सदा दुर्बलता के ही चिन्ह होते हैं। ये अवनति और मृत्यु के चिन्ह हैं। अतएव उनसे बचे रहो। बलवान बनो और अपने पैरों पर खड़े हो। इस संसार में अनेक महान् वस्तुएं हैं जो अति आश्चर्यजनक हैं। प्रकृति के बारे में हमारा जो सीमित ज्ञान है, उसकी तुलना में हम उन्हें असामान्य भले ही कह दें किन्तु उनमें से कोई भी चमत्कार नहीं है।

इस भारत भूमि पर यह उपदेश कभी नहीं दिया गया कि धर्म विषयक सत्य चमत्कार-जगत की वस्तुएं हैं, अथवा यह कि हिमालय की बर्फीली चोटियों पर बैठने वाली किन्हीं गुप्त समितियों का उन पर एकाधिकार है।

अंधविश्वास दूर करो

ये गुप्त समितियां कहीं भी नहीं हैं। इन अन्धविश्वासों के पीछे मत दौड़ो। तुम्हारे अपने और अपनी जाति के लिये उत्तम होगा कि घोर नास्तिक बन जाओ—क्योंकि कम से कम उससे तुम्हारा कुछ तो बल बना रहेगा, किन्तु इस प्रकार अन्धविश्वासपूर्ण होना अवनति तथा मृत्यु को ही निमन्त्रण है। मानव जाति को धिक्कार है कि सतेज मस्तिष्क वाले मनुष्य इन अन्धविश्वासों पर अपना समय गवां रहे हैं, दुनिया के सड़े से सड़े अन्धविश्वासों की रूपक व्याख्याओं का आविष्कार करने में ही समय नष्ट करते रहे हैं। साहसी बनो, हरेक विषय की दूसरी प्रकार व्याख्या करने की चेष्टा मत करो।

वास्तविकता यह है कि हमारे पास बहुतेरे अन्धविश्वास हैं, हमारी देह पर बहुत से दाग़ तथा हानिकारक फोड़े हैं—इनको काटकर, चीरफाड़ कर एकदम निकाल देना होगा, नष्ट कर देना होगा; पर इनके नष्ट होने से हमारा धर्म, हमारा राष्ट्रीय जीवन, हमारी अध्यात्मिकता नष्ट नहीं होगी बल्कि इससे हमारे धर्म के मूल तत्व अटूट रहेंगे। और जितनी जल्दी ये काले दाग़ निकाले जायेंगे उतनी ही अधिक जगमगाहट के साथ ये मूल तत्व चमकते रहेंगे। इन्हीं पर डटे रहो।

शारीरिक दुर्बलता

हमारे उपनिषद् कितने ही बड़े क्यों न हों, अन्यान्य जातियों की तुलना में हमारे पूर्व-पुरुष ऋषिगण कितने ही बड़े क्यों न हों, मैं आपसे स्पष्ट भाषा में कह देता हूं कि हम दुर्बल हैं, अत्यन्त दुर्बल हैं। सबसे पहली दुर्बलता है हमारी शारीरिक दुर्बलता। यह शारीरिक दुर्बलता कम से कम हमारे एक तिहाई दुःखों का कारण है। हम आलसी हैं; हम कार्य नहीं कर सकते।

सर्वप्रथम हमारे युवकों को बलवान बनना होगा। धर्म पीछे आयेगा। हे मेरे नवयुवक बन्धुगण, तुम बलवान बनो—यही तुम्हारे लिये मेरा उपदेश है। गीता-पाठ करने की अपेक्षा तुम फुटबाल खेलने से स्वर्ग के अधिक समीप पहुंचोगे। मेरे ये शब्द तुम्हें अटपटे लगेंगे, किन्तु इनको कहना अत्यावश्यक था, कारण, मैं तुमको प्यार करता हूं।

सशक्त शरीर से ही 'गीता' समझ सकोगे

बलिष्ठ स्नायुओं एवं सशक्त भुजाओं के द्वारा ही तुम गीता को अधिक समझ सकोगे। शरीर में तेजस्वी रक्त होने पर तुम श्रीकृष्ण की महान् शक्ति और प्रतिभा को अधिक अच्छी तरह समझ सकोगे। जिस समय तुम्हें अपने पौरुष का भान होगा, उस समय तुम उपनिषद् और आत्मा की महिमा को भली-भांति समझोगे।

हम बहुत सी बातें तोते के समान बोलते तो हैं, पर तदनुसार आचरण नहीं करते। अपनी कथनी को करनी में परिणत न करना हमारी आदत हो गई है। इसका कारण क्या है ? शारीरिक दौर्बल्य ही इसका प्रमुख कारण है। इस प्रकार का दुर्बल मस्तिष्क कुछ नहीं कर सकता; हमें अपने मस्तिष्क को बलवान बनाना होगा।

हमें खून में तेजी और स्नायुओं में बल की आवश्यकता है—लोहे की भुजायें और फौलाद के स्नायु चाहिये, न कि दुर्बलता लाने वाले निरर्थक विचार।

घर में शेर, बाहर गीदड़

इसके सिवा हमारे भीतर एक और बड़ा दोष है। वास्तविक बात यह है कि सदियों से गुलामी करते-करते हमारी जाति स्त्रीवत् बन गई है। इस देश में या अन्य किसी देश में, कहीं भी तुम स्त्रियों को केवल पांच मिनट के लिये भी बिना झगड़ा किये एकत्र नहीं देख पाओगे। योरोपीय देशों में स्त्रियां बहुत बड़ी बड़ी सभा समतियां स्थापित करती हैं और अपनी शक्ति की बड़ी-बड़ी घोषणायें करती हैं। इसके बाद वे आपस में झगड़ा करने लग जाती हैं। इसी समय कोई पुरुष बीच में कूद पड़ता है और उन पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है। सारे संसार में उन पर प्रभुत्व करने के लिये किसी न किसी पुरुष का रहना आवश्यक दिखाई देता है।

हमारी भी ठीक वही हालत है। हम भी स्त्रियों के समान हो गये हैं। यदि कोई

स्त्री स्त्रियों का नेतृत्व करने चलती है, तो सब मिलकर उसकी नुक्ताचीनी शुरू कर देती हैं, उसकी खिल्ली उड़ाने लगती हैं और अंत में उसे नेतृत्व से हटाकर ही दम लेती हैं। किन्तु यदि कोइ पुरुष आता है और उनके साथ जरा कड़ा–रूखा व्यवहार करता है और बीच-बीच में डांट-फटकार सुनाता रहता है, तो वे ठीक रहती हैं। वे इसी प्रकार की मोहनी क्रिया की अभ्यस्त हो गयी हैं।

ठीक इसी तरह, यदि हममें से कोई देशवासी खड़ा होता है और महान बनने की चेष्टा करता है तो हम सब उसकी टांग खींचने की कोशिश करते हैं। किन्तु यदि कोई विदेशी आता है और हमें ठोकर लगाता है, तो हम ठीक रहते हैं। हम इसके अभ्यस्त हो गये हैं। क्या यह सच नहीं है ?

परस्पर ईर्ष्या

हम एक साथ मिल नहीं सकते, हम एक दूसरे से प्रेम नहीं करते, हम बड़े स्वार्थी हैं, हम तीन मनुष्य भी एक दूसरे से घृणा या ईर्ष्या किये बिना एकत्र नहीं रह सकते।

हाय ! सदियों की घोर ईर्ष्या द्वारा हम लबालब भरे हुए हैं–हम सदा एक दूसरे से असूया करते हैं। क्यों अमुक व्यक्ति को मुझसे अग्रस्थान दिया गया ? क्यों हम अमुक से बड़े न हो सके ? हमारी सर्वदा यही चिन्ता बनी रहती है। यहां तक कि ईश्वर की पूजा में भी हम अग्रस्थान पाने के लिए लालायित रहते हैं। दासता की इस निम्न स्थिति में हम पहुंच गये हैं।

इस घृणास्पद दुष्टबुद्धि को त्याग दो, कुत्तों की तरह परस्पर झगड़ना, एक दूसरे पर भौंकना बन्द कर दो। शुभ उद्देश्य, सही साधन एवं सात्विक साहस के अधिष्ठान पर खड़े होओ और वीर बनो।

सर्वप्रथम हमें ईर्ष्यालु वृत्ति के इस धब्बे को जिसे प्रकृति सदैव गुलामों के मस्तक पर अंकित कर देती है, मिटा देना होगा। किसी से ईर्ष्या मत करो। सत्कार्य में रत प्रत्येक कार्यकर्त्ता का हाथ बटाने को तत्पर रहो। तीनों लोकों में प्रत्येक प्राणी के लिये सद्भाव रखो।

संगठित उद्यम का सबसे बड़ा शत्रु—ईर्ष्या

प्रत्येक व्यक्ति एवं प्रत्येक राष्ट्र को महान् बनाने के लिए तीन बातें आवश्यक है :–

(१) सद्वृत्ति की शक्ति पर अडिग श्रद्धा।

(२) अविश्वास और ईर्ष्या से मुक्ति।

(३) सत्प्रवृत्त एवं सत्कार्य में रत व्यक्तियों के प्रति सहयोग का भाव।

आखिर यह हिन्दू राष्ट्र अपने अद्भुत बुद्धिबल एवं अन्य गुणों के रहते हुए भी खण्ड खण्डित क्यों हुआ ? मेरा उत्तर एक ही है—ईर्ष्या के कारण ! इस अभागी हिन्दू जाति के समान संसार में कहीं भी लोगों में एक दूसरे के प्रति इतनी घृणास्पद

ईर्ष्या नहीं रही, कहीं भी लोग एक दूसरे के यश और प्रतिष्ठा के प्रति इतने ईर्ष्यालु नहीं रहे। और यदि कभी तुम्हें पश्चिम यात्रा का अवसर मिला तो तुम पाश्चात्य देशों में इस दुष्प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव अनुभव करोगे।

भारत में तीन व्यक्ति पांच मिनट के लिए भी आपस में मिलकर कार्य नहीं कर सकते। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति सत्ता के लिए संघर्ष करता है, जिसके परिणामस्वरूप कालान्तर में सम्पूर्ण संगठन संकट में पड़ जाता है।

शक्ति का रहस्य एकता और संगठन में निहित है

मुझे अथर्ववेद संहिता की एक ऋचा याद आ गयी, जो सदा ध्यान में रखने योग्य है। उसमें कहा गया है—

संगच्छध्वं संवध्दवं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानानामुपासते॥
(अथर्ववेद प्रथम काण्ड)

कि "तुम सब लोग एक मन हो जाओ, सब लोग एक ही विचार के बन जाओ क्योंकि प्राचीन काल में एक मन होने के कारण ही देवताओं ने हविर्भाग पाया। देवता मनुष्य द्वारा इसीलिए पूजे गये कि वे एकचित्त थे। एक मन हो जाना ही समाज के गठन का रहस्य है।

इसका क्या कारण है, अथवा वह कौन सी वस्तु है, जिसके द्वारा कुल चार करोड़ अंग्रेज पूरे तीस करोड़ भारतवासियों पर शासन करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में मनोविज्ञान क्या कहता है? यही, कि वे चारो करोड़ मनुष्य अपनी-अपनी इच्छा शक्ति को एकत्र कर देते अर्थात् शक्ति का अनन्त भण्डार बना लेते हैं और तुम तीस करोड़ मनुष्य अपनी-अपनी इच्छाओं को एक दूसरे से पृथक् किए रहते हो। बस यही इसका रहस्य है कि वे कम होकर भी तुम्हारे ऊपर शासन करते हैं।

अतएव यदि भारत को महान् बनना है, इसका भविष्य उज्ज्वल बनाना है, तो इसके लिये आवश्यकता है संगठन करने की और बिखरी हुई इच्छा शक्तियों को एकत्र करने की।

यदि तुम 'आर्य' और 'द्रविड़', 'ब्राह्मण' और 'अब्राह्मण' जैसे तुच्छ विषयों को लेकर तू-तू मैं-मैं करते रहोगे—झगड़े और पारस्परिक विरोध भाव को बढ़ाओगे—तो समझ लो कि तुम उस शक्ति-संग्रह से दूर हटते चले जाओगे, जिसके द्वारा भारत का भविष्य गठित होने वाला है। इस बात को याद रखो कि भारत का भविष्य सम्पूर्णतः उसी पर निर्भर करता है। बस इच्छाशक्ति को केन्द्रीभूत और शतमुखी शक्तियों को एकमुखी करने में ही सारा रहस्य छिपा हुआ है।

धर्म के आधार पर निर्माण

किसी भी दूसरे देश की अपेक्षा भारत की समस्याएं अधिक जटिल और गुरुतर हैं

जन्मगत भेद, धर्म, भाषा, शासन—ये ही एक साथ मिलकर राष्ट्र की सृष्टि करते हैं।

हमारी एक मात्र सम्मिलन-भूमि हमारी पुण्य परम्परा अर्थात् हमारा धर्म है। एकमात्र अधिष्ठान वही है, और उसी पर हमें राष्ट्र का संगठन करना होगा। योरोप में राजनीतिक विचार ही राष्ट्रीय एकता का आधार है।

भारत के भविष्य संगठन की पहली शर्त के तौर पर उसकी धार्मिक एकता की ही आवश्यकता है। देश भर में एक ही धर्म सबको स्वीकार करना होगा। एक ही धर्म से मेरा क्या मतलब है? उस अर्थ में एक धर्म नहीं, जिस अर्थ में ईसाइयों, मुसलमानों या बौद्धों में एक धर्म की कल्पना की जाती है।

जीवनदायी समान सिद्धान्तों पर ही आग्रह करे

हम जानते हैं, हमारे विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्त तथा दावे चाहे कितने ही विभिन्न क्यों न हों, उनमें कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जो सभी सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत हैं। अस्तु, हमारे सम्प्रदायों में कुछ ऐसे साधारण सिद्धान्त अवश्य हैं जिनको स्वीकार करने पर हमारे धर्म में अद्‌भुत विविधता के लिए गुंजाइश हो जाती है और साथ ही स्वतन्त्र चिन्तन और जीवन-रचना के लिए हमें पूरा अवसर प्राप्त हो जाता है।

हम लोग चाहते हैं कि अपने धर्म के ये जीवनप्रद समान तत्व हम सबके सामने लायें और देश के सभी स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध उन्हें समझें तथा जीवन में परिणत करें। यह हमारे लिएं आवश्यक है। यह प्रथम पग है। अतः इसे उठाना ही होगा।

धर्म की ऐक्य-शक्ति

हम देखते हैं कि एशिया और विशेषतः भारत में जाति, भाषा, समाज एवं राष्ट्र सम्बन्धी सभी बाधाएं धर्म की इस एकीकरण-शक्ति के सामने उड़ जाती हैं। हम जानते हैं कि भारतीय मानस के लिए धार्मिक आदर्श से बड़ा और कुछ भी नहीं है। धर्म ही भारतीय जीवन का मूलमंत्र है, और हमें इस सर्वाधिक सुगम मार्ग के द्वारा ही सफलता प्राप्त होगी।

—केवल इतना ही सत्य नहीं कि धार्मिक आदर्श यहां सबसे ऊंचा आदर्श है, अपितु भारत में तो कार्य करने का यही एक मात्र सम्भाव्य उपाय है। पहले इस पथ को सुदृढ़ किए बिना, दूसरे मार्ग से कार्य करने पर उसका फल घातक होगा। इसी लिए भावी भारत के निर्माण का पहला कार्य युग-युगों से चले आये इस राष्ट्रीय जीवन के महापर्वत में से धार्मिक एकता रूपी प्रथम सोपान को निर्माण करना होगा।

विशृंखल अध्यात्मिक शक्तियों का एकीकरण

यह शिक्षा हम सबको मिलनी चाहिए कि हम हिन्दू—द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी

या अद्वैतवादी, अथवा शैव, वैष्णव, पाशुपत आदि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का नाम धारण करते हुए भी आपस में कुछ सामान्य भाव रखते हैं, और अब वह समय आ गया है कि अपने हित के लिए, अपनी जाति के लिए हम इन तुच्छ भेदों और विवादों को त्याग दें।

सचमुच ये झगड़े बिल्कुल निरर्थक हैं, हमारे शास्त्र इनकी निन्दा करते हैं, हमारे पूर्व-पुरुषों ने इन्हें त्याज्य बताया है वे महापुरुषगण जिनके हम वंशज कहलाते हैं, जिनका रक्त हमारी नसों में बह रहा है, अपने बच्चों को इन क्षुद्र नातों के लिए झगड़ते हुए देख कर घोर घृणा की दृष्टि से देख रहे हैं।

—भारत की विशृंखल अध्यात्मिक शक्तियों के एकीकरण में ही भारत की राष्ट्रीय एकता निहित है। भारत में राष्ट्रीय एकता का अभिप्राय है, उन हृदयों का भी एकीकरण जिनके स्पन्दन से एक ही अध्यात्मिक लय झंकृत हो रही है।

—:o:—

पुनरुत्थान का कार्य—२

कार्य-योजना

भगवान वेदव्यास कहते हैं, इस कलियुग में दान ही एक मात्र धर्म है, और सब प्रकार के दानों में अध्यात्मिक ज्ञान का दान ही सर्वश्रेष्ठ है। इसके बाद लौकिक विद्या-दान, फिर जीवन-दान और सबसे अन्तिम है अन्नदान।

अन्नदान हम लोगों ने बहुत किया है, हमारी जैसी दानशील जाति दूसरी नहीं। यहां तो भिक्षुक के घर में भी जब तक रोटी का एक टुकड़ा रहता है, वह उसमें से आधा दान करता है। ऐसा दृश्य केवल भारत में ही दीख पड़ता है। हमारे यहां इस दान की कमी नहीं। हमें अन्य दोनों धर्मदान और विद्यादान के लिये बढ़ना चाहिये।

अगर हम सब वीरवृत्ति को धारण कर, दृढ़ अन्तःकरणों के साथ पूर्ण प्रमाणिकता को अपनाकर कर्मक्षेत्र में कूद पड़ें तो पचीस साल के भीतर सारी समस्याओं का समाधान हो जायेगा और ऐसा कोई प्रश्न शेष न रह जायेगा जिसके लिए जूझते रहना पड़े, तब सम्पूर्ण भारत फिर एक बार आर्यत्व से परिपूर्ण हो जायेगा।

चार दान

धन्य हैं वे महाभारत के प्रणेता महर्षि व्यास, जिन्होंने कहा है: "कलियुग में दान ही एकमात्र धर्म है"। तप और कठिन योगों की साधना इस युग में नहीं होती। इस युग में दान देने तथा दूसरों की सहायता करने की विशेष जरूरत है।

दान शब्द का क्या अर्थ है? सब दानों से श्रेष्ठ है धर्म-दान, फिर है विद्या-दान, फिर प्राणदान और सबसे अन्तिम है अन्न-जल-दान।

जो अध्यात्मिक ज्ञान का दान करते हैं वे आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाते हैं। जो लौकिक विद्यादान करते हैं वे मनुष्य की आंखें खोलते हैं, उन्हें अध्यात्मज्ञान का पथ दिखा देते हैं। अन्य दान, यहां तक कि प्राण-दान भी इनके निकट गौण है। अतएव तुम्हें समझ लेना चाहिये कि अन्यान्य सब कर्म अध्यात्मिक ज्ञान-दान से निम्नतर है।

जो मनुष्य को अध्यात्मिक ज्ञान देता है वही वस्तुतः मानव का सबसे बड़ा उपकारक है और इसीलिए हम सदैव पाते हैं कि जिन्होंने मनुष्य को उसकी अध्यात्मिक साधना में सहायता दी, वे ही मनुष्यों में सर्वाधिक प्रभावशाली माने गये; क्योंकि अध्यात्मिकता ही हमारे जीवन के समस्त क्रिया-कलापों की सच्ची आधारशिला है। अध्यात्मिकतया स्वस्थ एवं शक्तिशाली व्यक्ति में अन्य सब दृष्टियों से भी शक्तिमान बनने की क्षमता रहती है। जब तक मनुष्य में अध्यात्मिक शक्ति नहीं है तब तक उसकी भौतिक आवश्यकताएँ भी भली प्रकार पूरी नहीं हो सकतीं।

धर्म प्रचार अर्थात् अध्यात्म-ज्ञान

इस दानशील देश में हमें पहले प्रकार के अर्थात् अध्यात्मिक ज्ञान के विस्तार के कार्य को उत्साहपूर्वक हाथ में ले लेना चाहिये। यह ज्ञान-विस्तार भारतवर्ष की सीमा में ही आबद्ध नहीं रहना चाहिये, इसका विस्तार सम्पूर्ण जगत में करना होगा और यही अब तक होता भी आया है।

जो लोग कहते हैं कि भारत के विचार कभी भारत से बाहर नहीं गये, और जो लोग कहते हैं कि मैं ही पहला संन्यासी हूं जो भारत के बाहर धर्म-प्रचार करने गया, वे अपने राष्ट्र के इतिहास को नहीं जानते। यह कार्य कई बार हो चुका है। जिस समय संसार को इसकी आवश्यकता हुई, उसी समय भारत में निरन्तर बहने वाले अध्यात्मिक ज्ञानस्रोत ने संसार को प्लावित कर दिया।

प्रत्येक घर में धर्म का प्रवेश हो

भारत का धर्म बहुत दिनों से गतिहीन है—वह स्थिर होकर एक जगह टिका हुआ है हम चाहते हैं कि उसमें गति उत्पन्न हो। मैं प्रत्येक मनुष्य के जीवन में इस धर्म को प्रतिष्ठित हुआ देखना चाहता हूं। मैं चाहता हूं कि प्राचीन काल की तरह राजमहल से लेकर दरिद्र के झोपड़े तक सर्वत्र समान भाव से धर्म का प्रवेश हो।

धर्म इस जाति में सभी को समान रूप में वंशानुक्रम से प्राप्त हुआ है; धर्म ही इस जाति का जन्मसिद्ध स्वत्व है। इस धर्म को प्रत्येक व्यक्ति के लिए सहज-सुलभ बनाना होगा। जिस प्रकार ईश्वर के राज्य में सबको वायु बिना प्रयास किये प्राप्त होती है, उसी प्रकार भारतवर्ष में धर्म को सुलभ बनाना होगा। यही कार्य है जो हमें भारत में करना होगा, किन्तु छोटे-छोटे सम्प्रदाय स्थापित करके और केवल मतभेद के प्रश्नों पर झगड़ते रह कर नहीं। हम उन्हीं बातों का प्रचार करें जिन पर हम सब सहमत हैं।

सत्य दो, असत्य स्वयं मिट जायेगा

यदि किसी कमरे में सदियों से घोर अंधकार फैला हुआ है, तो क्या 'घोर

अन्धकार' ! 'भयंकर अन्धकार' !! कहकर चिल्लाने मात्र से अन्धकार दूर हो जायेगा ? नहीं, कमरे को आलोकित कर दो, फिर देखो कि अंधेरा आप ही आप दूर हो जाता है या नहीं। मनुष्य के सुधार व संस्कार का यही मार्ग है।

पहले मनुष्य पर विश्वास करो। तदुपरान्त यदि तुम्हें दिखाई दे कि उसमें दोष हैं, वह कोई गलतियाँ करता है अथवा अत्यन्त अपरिपक्व एवं घृणित सिद्धान्तों को अपनाता है, तो निश्चय मानों कि इसका कारण उसकी मूल प्रकृति नहीं; अपितु उसके जीवन में श्रेष्ठ आदर्शों का अभाव मात्र है।

तुम उसे सत्य का दर्शन करने दो—बस यहीं तुम्हारा काम समाप्त हो गया। अब उसे उस सत्य के प्रकाश में अपना आत्मनिरीक्षण करने दो ? और मेरे शब्दों पर ध्यान दो ! यदि तुमने वास्तव में उसे सत्य का ज्ञान करा दिया है, तो असत्य स्वयं ही तिरोहित हो जायेगा। प्रकाश कभी अन्धकार का नाश किए बिना नहीं रहता। सत्य अवश्य ही उसकी अच्छाइयों को प्रकट करेगा।

यदि तुम देश का अध्यात्मिक उत्थान करना चाहते हो, तो उसका यही एकमेव मार्ग है। उसका मार्ग यही है; न कि लड़ना झगड़ना, न कि लोगों को यह बतलाते रहना कि जो कुछ तुम कर रहे हो वह सब बुरा है। आवश्यकता इस बात की है कि जो कुछ अच्छा है उसे उनके समक्ष रख दो, फिर देखो, वे कितनी उत्सुकता के साथ उसे ग्रहण करते हैं। मनुष्य मात्र के अन्दर जो अविनाशी ईश्वरीय तेज विद्यमान है, वह जो कुछ भी भव्य एवं श्रेष्ठ है उसे हाथ फैलाकर ग्रहण कर लेता है।

धर्म-ग्रन्थों में छिपे अध्यात्मिक रत्नों को प्रकाश में लाया जाय

मेरा विचार है, सर्वप्रथम अध्यात्मिकता के उन रत्नों को, जो हमारे शास्त्र ग्रन्थों में मौजूद हैं, और जो कुछ ही मनुष्यों के अधिकार में मठों और अरण्यों में छिपे हुए हैं, बाहर निकालना होगा। जिन लोगों के अधिकार में ये छिपे हुए हैं, केवल वहीं से इस ज्ञान का उद्धार करने से काम न चलेगा, किन्तु उससे भी दुर्भेद्य पेटिका अर्थात् जिस भाषा में ये सुरक्षित हैं, उस शताब्दियों के संस्कृत शब्दों के कोष से उन्हें निकालना होगा। एक वाक्य में कहें तो मैं उन्हें जन-सुलभ बना देना चाहता हूँ।

इस मार्ग में सबसे बड़ी बाधा हमारी गौरवशालिनी भाषा अर्थात् संस्कृत ही है। और यह बाधा तब तक दूर नहीं हो सकती जब तक कि सम्पूर्ण राष्ट्र—यदि सम्भव हो तो—संस्कृतज्ञ नहीं बन जाता।

संस्कृत के प्रचार की आवश्यकता

यह कठिनाई तुम तब समझ सकोगे जब मैं प्रकट करूँ कि मैं आजीवन इस संस्कृत भाषा का अध्ययन करते रहने पर भी जब कभी इसकी कोई नयी पुस्तक उठाता हूँ तब वह मुझे बिल्कुल अभिनव जान पड़ती है। अब सोचो कि जिन लोगों ने विशेष

रूप से इस भाषा का अध्ययन करने का समय नहीं पाया उनके लिये यह कितनी अधिक क्लिष्ट होगी। अतएव मनुष्यों की बोलचाल की भाषा में उन विचारों की शिक्षा देनी होगी। किन्तु साथ ही संस्कृत की शिक्षा भी अवश्य चलती रहनी चाहिये क्योंकि संस्कृत शब्दों की ध्वनिमात्र ही राष्ट्र को एक प्रकार की प्रतिष्ठा, शक्ति एवं तेज प्रदान करती है।

रामानुज, चैतन्य और कबीर ने भारत की निम्न जातियों को उठाने का जो प्रयत्न किया था उसे उन महान् धर्माचार्यों के जीवन काल में अद्भुत सफलता प्राप्त हुई किन्तु फिर उनके बाद उस कार्य का जो असफल परिणाम निकला उसकी मीमांसा होनी चाहिये, और किस कारण से उन बड़े-बड़े धर्माचार्यों के तिरोभाव के प्रायः एक ही शताब्दी के भीतर वह उन्नति रुक गयी, इसका विवेचन भी किया जाना चाहिये।

संस्कृत प्रगति को स्थायी बनाने में सहायक होगी

इसका रहस्य यह है कि उन्होंने निम्न जातियों को उठाया था; उनकी पूर्ण इच्छा थी कि ये उन्नति के उच्च शिखर पर आरूढ़ हो जायें, परन्तु उन्होंने जनता में संस्कृत का प्रचार करने में शक्ति नहीं लगायी। यहाँ तक कि भगवान् बुद्ध ने भी यह भूल की कि उन्होंने जनता में संस्कृत शिक्षा का विस्तार बन्द कर दिया।

वे जनता की बोलचाल की भाषा में बोले थे। यह बहुत ही अच्छा हुआ था, इससे उनके भाव बहुत शीघ्र ही फैले और दूर-दूर तक पहुँचे किन्तु इसके साथ ही संस्कृत भाषा का भी प्रचार होना चाहिये था। बौद्धिक ज्ञान का विस्तार तो हुआ किन्तु उनके मन में ज्ञान की महिमा का भाव नहीं जग सका और न ही वे संस्कार-सम्पन्न बन सके। विभिन्न प्रकार के आघातों के सम्मुख टिके रहने की क्षमता केवल संस्कारित ज्ञान में ही होती है न कि निरी बौद्धिक जानकारियों के ढेर में।

जनता को उसकी बोलचाल की भाषा में शिक्षा दो, उसे अनेक विचार दो, इससे उसकी जानकारी बढ़ेगी। परन्तु इससे आगे बढ़कर उसे संस्कारित बनाने का प्रयास भी करो। जब तक तुम यह नहीं कर सकते तब तक उनकी उन्नत दशा कदापि स्थायी नहीं हो सकती।

ज्ञान का शाश्वत भण्डार और श्रद्धा केन्द्र

उपनिषद् हमारे पवित्र धर्मग्रन्थ हैं। भारत के समस्त दर्शन और सम्प्रदायों को यह प्रमाणित करना होता है कि उसका दर्शन अथवा सम्प्रदाय उपनिषद् रूपी नींव के ऊपर प्रतिष्ठित है। यदि कोई ऐसा करने में समर्थ न हो सके तो वह दर्शन अथवा सम्प्रदाय धर्म-विरुद्ध गिना जाता है; इसलिए वर्तमान समय में समग्र भारत के हिंदुओं

को यदि किसी समान नाम से परिचित कराना हो तो उनको 'वैदान्तिक' अथवा 'वैदिक' कहना उचित होगा। मैं वैदान्तिक धर्म और वेदान्त इन दोनों शब्दों का व्यवहार सदा इसी अर्थ से किया करता हूँ।

यहाँ तक कि बौद्धों और जैनों के दार्शनिक ग्रन्थों में भी श्रुतियों की सहायता को अमान्य नहीं किया गया है और कम से कम कतिपय बौद्ध शाखाओं तथा अधिकांश जैन ग्रन्थों में श्रुतियों के प्रामाण्य को पूर्णतया स्वीकार किया गया है। वे केवल उन अंशों को नहीं मानते जिन्हें वे हिंसक श्रुतियां कहते हैं, और जिन्हें वे ब्राह्मणों द्वारा प्रक्षिप्त अंश बताते हैं।

शक्ति के भंडार—उपनिषद्

उपनिषदों का प्रत्येक पृष्ठ शक्ति से भरा हुआ है। यह विषय विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य है। समस्त जीवन में मैंने यही महाशिक्षा प्राप्त की है। उपनिषद् कहते हैं—'हे मानव, तेजस्वी बनो, दुर्बलता को त्यागो।'

जो हमारी जाति को शक्तिहीन कर सकती है, ऐसी दुर्बलताओं का प्रवेश हममें विगत एक हजार वर्ष से ही हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो विगत एक हजार वर्ष में हमारे राष्ट्रीय जीवन का एकमात्र लक्ष्य यही रह गया था कि किस प्रकार हम अपने को अधिक से अधिक दुर्बल बना सकें। ताकि अन्त में हम कीटवत् रह जायें और उस समय जो चाहें हमें रौंद डाले।

हे बन्धुगण, तुम्हारी और मेरी नसों में एक ही रक्त का प्रवाह है, तुम्हारा जीवन-मरण मेरा भी जीवन-मरण है। मैं तुमसे पूर्वोक्त कारणों से कहता हूं कि हमको शक्ति, केवल शक्ति ही चाहिये और उपनिषद् शक्ति की विशाल खान हैं। उपनिषदों में ऐसी प्रचुर शक्ति विद्यमान है कि वे समस्त संसार को तेजस्वी कर सकते हैं। उनके द्वारा समस्त संसार पुनरुज्जीवित एवं शक्ति और वीर्यसम्पन्न हो सकता है।

समस्त जातियों को, सकल मतों को, भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के दुर्बल, दुखी, पददलित लोगों को वे उच्च स्वर से पुकार कर स्वयं अपने पैरों पर खड़े होकर मुक्त होने के लिए कहते हैं। मुक्ति अथवा स्वाधीनता—दैहिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता, अध्यात्मिक स्वाधीनता यही उपनिषदों का मूल मन्त्र है।

उपनिषद् केवल विरक्ति के प्रतिपादक नहीं

किन्तु आश्चर्य; वे केवल संन्यासियों तक सीमित रहे! वे रहस्य बन गये! उपनिषद् केवल अरण्यवासी संन्यासियों की सम्पत्ति रह गये। हाँ, शंकर ने थोड़ी दया अवश्य की और कहा—"गृहस्थ मनुष्य भी उपनिषदों का अध्ययन कर सकते हैं; इससे उनका कल्याण ही होगा, कोई अनिष्ट न होगा।" परन्तु अभी तक यह संस्कार कि

उपनिषदों में केवल संन्यासियों के आरण्यक जीवन की ही चर्चा है, हमारे मन पर जमा हुआ है।

जो स्वयं वेदों के प्रकाशक हैं, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा वेदों की एकमात्र प्रामाणिक टीका—"गीता"—एक ही बार चिरकाल के लिए बनी है; यह सबके लिए और जीवन के प्रत्येक कर्मक्षेत्र में उपयोगी है।

वेदान्त के इन महान् तत्वों को बाहर लाना ही होगा। अब वे केवल अरण्य में अथवा गिरि-गुहाओं में बन्द नहीं रहेंगे; विचारालयों में, प्रार्थना मंदिरों में, दरिद्र की कुटी में, मत्स्यजीवियों के गृहों में, छात्रों के अध्ययन-स्थान में—सर्वत्र ही उनका प्रसार व व्यवहार होगा।

सब कर्मक्षेत्रों में उपनिषद् विकास में सहायक

उपनिषदों के सिद्धान्तों को मछुवा आदि साधारण-जन किस काम में लायेंगे ? इसका उपाय शास्त्रों में बताया गया है।

मत्स्यजीवी यदि अपने को आत्मा कह कर चिन्तन करे, तो वह एक उत्तम मत्स्यजीवी होगा। विद्यार्थी यदि अपने को आत्मा कहकर चिन्तन करे, तो वह एक श्रेष्ठ विद्यार्थी होगा। वकील यदि अपने को आत्मा समझे तो वह एक अच्छा वकील होगा। अन्यों के विषय में भी यही समझना चाहिये।

आत्मा के पूर्णत्व का महान् सिद्धान्त

हम उसी सर्वशक्तिमान की सन्तान हैं, हम उसी अनन्त ब्रह्माग्नि की चिनगारियां हैं, तब भला हम 'नगण्य' क्योंकर हो सकते हैं ? हम सब कुछ करने को तत्पर हों, हम सब कुछ कर सकते हैं और मनुष्य को सब कुछ करना भी चाहिये।

अतएव मेरे बन्धुओ ! तुम अपनी सन्तानों को बाल्यकाल से ही इस महान्, जीवन-प्रद, उच्च और महत्वविधायक तत्व की शिक्षा देना शुरू कर दो। तुम उन्हें अद्वैतवाद की शिक्षा दो, यह कोई अनिवार्य नहीं है। उन्हें चाहे द्वैतवाद की शिक्षा दो या किसी 'वाद' की—मैंने यह पहले ही बता दिया है कि आत्मा की पूर्णता का यह अपूर्व सिद्धान्त सभी सम्प्रदाय वालों को समान रूप से मान्य है।

आत्मा की पूर्णता का यह विश्वास हमारे पूर्वजों के अन्तःकरण में विद्यमान था। यह आत्मश्रद्धा ही वह मूल प्रेरणा थी। जिसने उन्हें सभ्यता की यात्रा में निरन्तर आगे बढ़ते रहने की शक्ति प्रदान की और अब यदि हमारी अवनति हुई तो आपसे सच कहता हूं—जिस दिन हमारे पूर्वजों ने अपना यह आत्मविश्वास गंवाया उसी दिन से हमारी यह अवनति, यह दुरवस्था आरम्भ हुई। आत्मविश्वास के न होने का मतलब ही है ईश्वर में भी अविश्वास।

आत्मविश्वास की अद्भुत शक्ति

मैंने पाश्चात्य जगत में जाकर क्या सीखा ? मैंने विभिन्न ईसाई सम्प्रदायों की इस निरर्थक घोषणा में कि मनुष्य नितान्त पतित एवं पापी है, के पीछे वहाँ क्या देखा ? मैंने देखा कि योरोप और अमेरिका के राष्ट्रीय अन्तःकरण इस आत्मश्रद्धा से जनित प्रचण्ड सामर्थ्य से परिपूर्ण हैं।

एक अंग्रेज बालक दावे के साथ तुमसे कह सकता है—"मैं अंग्रेज हूं, मैं सब कुछ कर सकता हूं।" एक अमेरिकन या योरोपियन बालक इसी तरह की बात बड़े विश्वासपूर्वक कह सकता है। हमारे भारतवर्ष के बच्चे क्या इस तरह की बात कह सकते है ? कदापि नहीं। लड़कों की कौन कहे—लड़कों के पिता भी इस तरह की बात नहीं कह सकते। हम अपने आप पर से विश्वास खो बैठे हैं।

भारत का कोई भी धर्म-सम्प्रदाय ऐसा नहीं है, जो यह न कहता हो कि ईश्वर सबके भीतर विराजमान है और सब वस्तुओं में देवत्व का वास है। हमारे वेदान्त मतावलम्बियों में जो भिन्न-भिन्न मतवादी हैं, वे सभी यह स्वीकार करते हैं कि जीवात्मा में पहले से ही पूर्ण पवित्रता, शक्ति और पूर्णत्व अन्तर्निहित है।

आत्मविश्वास का आदर्श ही हमारी सर्वाधिक सहायता कर सकता है। यदि अब तक आत्मविश्वास की शिक्षा दी गयी होती और उसका अभ्यास कराया गया होता तो मेरा विश्वास है कि जिन आपदाओं और बुराइयों से हम घिरे हुए हैं उसमें से अधिकांश लोप हो गयी होतीं। मानव जाति के सम्पूर्ण इतिहास में, समस्त महान् पुरुषों एवं नारियों के जीवन में यदि कोई मानसिक शक्ति सबसे प्रबल दिखाई देती है तो वह है उसका आत्मविश्वास। "हमें महान् बनना है" यह चेतना उनमें सदैव बनी रही और वे महान् बन गये।

एक साधारण क्लर्क साम्राज्य का निर्माता बन गया

कोई मनुष्य नीचे से नीचे भी गिरता जाय तो एक समय ऐसा अवश्य आयेगा जब वह घोर निराशा में ऊपर की ओर उठने का प्रयास करेगा और स्वयं में विश्वास रखना सीखेगा। किन्तु हमारे लिये अच्छा होगा कि हम इस मन्त्र को प्रारम्भ से ही स्मरण रखे। आत्मविश्वास प्राप्त करने के लिये आखिर हम इन समस्त कटु अनुभवों के मध्य से गुजरें ही क्यों ? हम देख सकते हैं कि मनुष्य-मनुष्य में अन्तर केवल इस विश्वास की भावना के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के कारण ही पड़ जाता है।

यहाँ, इस भारत में एक अंग्रेज आया था, वह एक साधारण क्लर्क था, रुपये-पैसे के अभाव से और दूसरे कारणों से भी उसने अपने सिर में गोली मारकर दो बार आत्म-हत्या करने की चेष्टा की, और जब वह उसमें असफल हुआ तब उसे विश्वास हुआ कि वह अवश्य ही किसी बड़े काम को करने के लिए पैदा हुआ है—वही मनुष्य इस ब्रिटिश साम्राज्य का प्रतिष्ठाता लार्ड क्लाइव है।

व्यावहारिक जीवन में अद्वैत

अपने पर विश्वास रखो और यदि तुम्हें सांसारिक ऐश्वर्य की आकांक्षा हो तो इस अद्वैतवाद को कार्यान्वित करो, धन तुम्हारे पास आयेगा। यदि विद्वान और बुद्धिमान होने की इच्छा है, तो उसी क्षेत्र में अद्वैतवाद का प्रयोग करो—तुम महामनीषी हो जाओगे। और यदि तुम मुक्ति-लाभ करना चाहते हो तो तुम्हें अध्यात्मिक स्तर पर इस अद्वैतवाद का प्रयोग करना होगा, तभी तुम ईश्वर हो जाओगे—परमानन्दस्वरूप निर्वाण लाभ करोगे।

अद्वैत के साथ एक यही खराबी रही कि इसका प्रयोग अब तक केवल अध्यात्मिक क्षेत्र में ही किया गया है और अन्य कहीं नहीं। अब उसका प्रयोग व्यावहारिक जगत् में करने का समय आया है। अब उसे केवल रहस्य रखने से काम नहीं चलेगा, अब वह हिमालय की गुफाओं और जंगलों में, साधु-सँन्यासियों के पास ही बंधा नहीं रहेगा—अब मनुष्य के दैनिक जीवन के कार्यों में उसकी उपयोगिता की आवश्यकता है। राजप्रासाद में, साधु-संन्यासियों की गुहा में, गरीबों की कुटिया में, सर्वत्र, यहां तक कि रास्ते के भिखारी के जीवन में, सब कामों में उसकी व्यावहारिक उपयोगिता सिद्ध होगी।

शिक्षा अथवा लौकिक ज्ञान का प्रसार

पाश्चात्य राष्ट्रों की प्रगति का रहस्य—शिक्षा का व्यापक प्रसार

पश्चिम और पूर्व में केवल इतना अन्तर है कि उनमें राष्ट्र भाव व्यापक है जबकि हम में नहीं हैं। अर्थात् वहां शिक्षा और सभ्यता जनसाधारण तक प्रवेश कर चुकी है। अमेरिका और भारत के उच्च वर्ग तो एक समान हैं। किन्तु दोनों देशों के निम्न वर्गों में आकाश-पाताल का अन्तर है। अंग्रेजों के लिए भारत को जीतना इतना सुगम क्योंकर हो सका? क्योंकि वहाँ राष्ट्रीयता की भावना सबमें जागृत है, हममें नहीं है।

हमारे यहां जब एक महापुरुष का तिरोधान हो जाता है तब हमें दूसरे महापुरुष के आगमन के लिए शताब्दियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। जबकि वे एक महापुरुष के मरते ही दूसरा पैदा कर लेते हैं। वहां महापुरुषों की खान है। ऐसा क्यों है? क्योंकि उनके सामने महापुरुष उत्पन्न करने के लिये एक विशाल क्षेत्र विद्यमान रहता है। हमें बहुत छोटा क्षेत्र उपलब्ध है। हमारे राष्ट्र की जनसंख्या तीस कोटि होते हुये भी हमारे पास उन राष्ट्रों की अपेक्षा, जिनकी जनसंख्या केवल तीन, चार या छह करोड़ है, महापुरुष उत्पन्न करने वाला क्षेत्र सबसे छोटा है क्योंकि उन राष्ट्रों में शिक्षित नर-नारियों की संख्या इतनी अधिक है। मेरे एक-एक शब्द को

हृदयंगम कर लो। हमारे राष्ट्र की यह भारी कमी है और इसे दूर करना होगा। जन-साधारण को शिक्षित करो और ऊपर उठाओ। केवल तभी यह देश यथार्थ में राष्ट्र-रूप में खड़ा हो सकेगा।

तुमने पढ़ा होगा "मातृ देवो भव, पितृ देवो भव"। अर्थात् 'माता को भगवान समझो, पिता को भगवान समझो'। किन्तु मैं कहता हूं—"दरिद्र देवो भव, मूर्ख देवो भव"—'इन गरीबों, अपढ़ों, अज्ञानियों एवं दुखियों को ही अपना भगवान मानो। स्मरण रखो, केवल इनकी सेवा ही तुम्हारा परम धर्म है।

वर्तमान शिक्षा—निषेधात्मक एवं निर्जीव

जो शिक्षा तुम अभी पा रहे हो, उसमें अच्छा अंश बहुत ही कम और बुराइयां बहुत हैं। इसलिए उसकी बुराइयां उसके भले अंश को पचा जाती हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि यह शिक्षा मनुष्य बनाने वाली नहीं कही जा सकती। यह पूर्णतया निषेधात्मक शिक्षा मात्र है। अश्रद्धा पर आधारित कोई भी निषेधात्मक शिक्षा मृत्यु से भी भयावह होती है। कोमल-मति बालक पाठशाला में भर्ती होता है, तो सबसे पहली बात उसे सिखाई जाती है, कि 'मेरा बाप मूर्ख है।' दूसरी बात वह सीखता है कि 'मेरा दादा पागल है।' तीसरी बात—'मेरे जितने शिक्षक और आचार्य हैं, वे सब मिथ्यावादी हैं।' और चौथी बात, 'मेरे समस्त पवित्र धर्मग्रंथ गपोड़बाजी हैं।' इस प्रकार की अश्रद्धापूर्ण बात सीखते-सीखते जब वह १६ वर्ष की अवस्था को प्राप्त करता है, तब वह अश्रद्धाओं का निर्जीव निरालम्ब ढेर मात्र रह जाता है।

हमें कभी यह नहीं बताया जाता कि हमारे देश में भी महापुरुष पैदा हुए हैं। हमें कोई भी ठोस ज्ञान नहीं सिखाया जाता। हम यह भी नहीं जानते कि अपने हाथों-पैरों का ठीक प्रकार से उपयोग कैसे करें। हम अंग्रेजों के पूर्वजों से सम्बन्धित आंकड़ों और तथ्यों को ही रटते रहते हैं किन्तु हमें अपने पूर्वजों के बारे में कुछ भी पता नहीं रहता। हमने केवल दुर्बलता ही सीखी है। एक पराजित जाति के नाते हम यह विश्वास करने लगे कि हम दुर्बल हैं और हमें कुछ करने की स्वाधीनता नहीं है। अतः इसका परिणाम और हो ही क्या सकता है कि हम पूर्णतः श्रद्धाविहीन हो जायें।

शिक्षा—चरित्र-निर्माणकारी विचारों का सम्मिश्रण

केवल जानकारी का वह ढेर 'शिक्षा' नहीं कहला सकता जिसे तुम्हारे दिमागों में ठूंस-ठूंस कर भर दिया जाता है और जो बिना आत्मसात् हुए वहां जीवन भर उपद्रव मचाया करता है। हमें विचारों को इस प्रकार आत्मसात् कर लेना चाहिये कि उनके द्वारा हमारा जीवन-निर्माण हो सके, हमारा चारित्रिक गठन हो सके और हम मनुष्य बन सकें। यदि तुम केवल पांच ही भावों को आत्मसात् कर तदनुसार अपने

जीवन और चरित्र का गठन कर सको तो उस मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक शिक्षित हो, जिसने एक पूरा का पूरा पुस्तकालय कंठस्थ कर रखा हो।

अत: हमारा लक्ष्य यही है कि हमारे देश की सम्पूर्ण शिक्षा लौकिक और पारमार्थिक हमारे हाथों में हो और यह शिक्षा हमारी राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप हो और जहाँ तक संभव हो सके राष्ट्रीय पद्धति से ही दी जानी चाहिये।

गरीबों के पढ़ाने की कठिन समस्या

गरीबों को शिक्षित बनाने के मार्ग में बड़ी कठिनाई यही है।

कल्पना के लिए यदि हम प्रत्येक ग्राम में नि:शुल्क विद्यालय खोलने की स्थिति में पहुंच भी जायें तो भी गरीब लड़के उस विद्यालय में आने की अपेक्षा आजीविका के लिए हल चलाना ज्यादा पसन्द करेंगे। न तो हमारे पास पर्याप्त धन है और न हम उन्हें विद्यालयों की ओर आकृष्ट करने में ही सफल हो सकते हैं। अत: इस समस्या का कोई हल नहीं दीखता, किन्तु मैंने उसका एक हल खोजा है जो इस प्रकार है :

समस्या का हल

संन्यासी प्रत्येक द्वार तक शिक्षा को ले जाय

यदि रोगी चिकित्सक के पास जाने को तैयार नहीं तो चिकित्सक ही रोगी के पास क्यों न जाये ? यदि गरीब लोग शिक्षा के निकट नहीं आ सकते तो शिक्षा को ही उनके लिए उनके खेतों पर, उनकी फैक्ट्री में तथा सर्वत्र जाना होगा।

हमारे देश में सहस्रों ध्येयनिष्ठ एवं सर्वस्व त्यागी संन्यासियों का वर्ग है जो गांव-गांव जाकर धर्म की शिक्षा देते हैं। यदि उनमें से कुछ को लौकिक विद्याओं का शिक्षण देने के लिये तैयार कर लिया गया तो वे ग्राम-ग्राम, द्वार-द्वार जाकर न केवल धर्मोपदेश कर सकेंगे अपितु शिक्षादान भी करेंगें।

अत: उन लोगों को ग्राम-ग्राम जाकर प्रत्येक घर पर केवल धर्म को ही नहीं पहुंचाना चाहिये बल्कि शिक्षा को भी पहुंचाना चाहिये।

अब कल्पना करो कि समस्त ग्रामवासी अपने दिन भर के काम से निपट कर गांव वापस आये और किसी पेड़ के नीचे या कहीं और बैठकर हुक्का पी रहे हैं एवं बातों में समय काट रहे हैं। कल्पना करो कि ऐसे समय दो शिक्षित संन्यासियों ने उन्हें वहाँ घेर लिया और एक कैमरे के द्वारा ज्योतिर्विज्ञान के भूगोल एवं इतिहास आदि को चित्रों के रूप में उनके सामने प्रस्तुत किया। इस प्रकार भूगोल, मानचित्रों आदि तथा मौखिक बातचीत के द्वारा उन्हें कितना अधिक ज्ञान प्रदान किया जा सकता है।

जाग्रत !!

केवल आँख ही ज्ञान प्राप्ति का अकेला द्वार नहीं है, कान भी वह काम कर सकता है। इस प्रकार उनमें नये-नये विचारों, नैतिकता तथा अपने उज्ज्वल भविष्य के प्रति आशा का संचार होगा। यहां हमारा कार्य सम्पन्न हो जाता है।

उन्हें विचार दिये जाने चाहिये, उनकी आंखों के समक्ष चारों ओर के जगत में चलनेवाले व्यापार का चित्र खड़ा करना चाहिये, तब वे अपने उद्धार का मार्ग स्वयं निर्माण कर लेंगे।

हमारा कार्य है कि हम रसायनों को एकत्र ला दें, उनकी सम्मिश्रण प्रक्रिया अपने आप ईश्वरीय नियमों के अनुसार चलेगी। हम केवल उनके दिमागों में विचार भर दें। शेष कार्य वे स्वयं कर लेंगे। यही है वास्तविक अर्थों में लोक-शिक्षण।

धार्मिक उमंग से बड़ा काम होगा

किन्तु संन्यासी इतना बड़ा त्याग क्यों करेंगे? ऐसा कार्य अपने ऊपर क्यों लेंगे? केवल धार्मिक उमंग के कारण। प्रत्येक नयी धार्मिक लहर के लिये एक नया केन्द्र होना आवश्यक होता है। पुराने धर्म में पुनरुज्जीवन का संचार एक नये केन्द्र द्वारा ही हो सकता है। अपने 'वादों' और सिद्धान्तों को ताक में रख दो, वे कुछ काम नहीं आयेंगे। इस समय एक चरित्रवान, एक जीवन निष्ठ देवतातुल्य मनुष्य को ही केन्द्र बनकर समाज का नेतृत्व करना होगा। वही केन्द्र है जिसके चारों ओर अन्य समस्त शक्तियाँ एकत्र होंगी और समाज पर एक ज्वार-तरंग के समान छा जायेंगी तथा समाज की समस्त मलिनताओं को बहा ले जायेंगी।

किसी लकड़ी के टुकड़े को उसके रेशों के अनुकूल दिशा में काटना अधिक सरल होता है। इसी प्रकार इस प्राचीन हिन्दू धर्म का पुनस्संस्कार भी हिन्दूधर्म के माध्यम से ही हो सकता है, न कि इन नवीनता लोभी सुधारवादी आन्दोलनों से।

साथ ही, इन सुधारकों को अपने अन्दर पूर्व और पश्चिम दोनों की संस्कृति का समन्वय करना होगा।

सबसे पहले हमें अपनी जाति की अध्यात्मिक और शिक्षा लौकिक का भार ग्रहण करना होगा। तुम्हें इस विषय पर सोचना-विचारना होगा, इस पर तर्क-वितर्क और आपस में परामर्श करना होगा, दिमाग लगाना होगा और अन्त में, उसे कार्यरूप में परिणत करना होगा। तब तक जाति का उद्धार होना असम्भव है। और अब इसके लिए आवश्यकता है एक संगठन की।

सर्वत्र कर्म चेतना के केन्द्र स्थापित हों

यह एक बहुत बड़ी योजना है, बहुत बड़ी परिकल्पना है। मैं नहीं कह सकता कि यह कार्यरूप में परिणत होगी या नहीं और होगी, तो कब तक? पर उसका विचार

छोड़कर हमें यह काम फौरन शुरू कर देना चाहिये। लेकिन कैसे ? किस तरह से काम में हाथ लगाया जाय ? उदाहरण के लिए मद्रास का ही काम ले लीजिये। सबसे पहिले हमें एक मन्दिर की आवश्यकता है, क्योंकि सभी कार्यों में हिन्दू प्रथम स्थान धर्म को ही देते हैं। आप कहेंगे कि ऐसा होने से हिन्दुओं के विभिन्न मतावलम्बियों में परस्पर झगड़े होने लगेंगे। पर मैं आपको किसी मत विशेष के अनुसार वह मन्दिर बनवाने को नहीं कहता। वह इन साम्प्रदायिक भेद-भावों से परे हो उसका एकमात्र उपास्य 'ॐ' हो जो कि हमारे सभी धर्म सम्प्रदायों का प्रतीक है।

यदि हिन्दुओं में कोई ऐसा साम्प्रदाय हो, जो ओंकार को न माने, तो समझ लीजिये कि वह हिन्दू कहलाने योग्य नहीं है। उस मन्दिर में सब लोग अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार ही उस हिन्दुत्व की व्याख्या कर सकेंगे, पर यह मन्दिर सबके मिलन का केन्द्र होगा। तुम भले ही अन्यत्र जाकर अपनी उचित श्रद्धा के अनुकूल, मूर्ति अथवा प्रतीक की उपासना करो किन्तु इस मन्दिर में आकर अपने से भिन्न मत रखनेवालों से झगड़ा मत करो।

इस केन्द्र में वे ही धार्मिक तत्व समझाये जायेंगे जो समस्त सम्प्रदायों के अधिष्ठान हैं। किन्तु साथ ही हर सम्प्रदाय वाले को यहां आकर अपने सिद्धान्तों को व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहेगी। पर वे मतभेद की, झगड़े वाली बातें बताने या सिखाने नहीं पायेंगे। बोलो तुम क्या बोलते हो ? संसार तुम्हारी सम्मति जानना चाहता है, पर उसे यह सुनने का समय नहीं है कि तुम औरों के विषय में क्या विचार प्रकट कर रहे हो। औरों की बात छोड़ो तुम अपनी ही ओर ध्यान दो।

लौकिक एवं धार्मिक आचार्यो का प्रशिक्षण

इस मन्दिर के साथ एक और संस्था हो जिसमें ऐसे शिक्षक तैयार किए जायें जो लोगों में धर्म-प्रचार करने एवं उन्हें लौकिक शिक्षा देने के हेतु सर्वत्र भ्रमण करते रहें। उन्हें दोनों काम करने होंगे। जैसे हम धर्म का प्रचार द्वार-द्वार जाकर करते हैं वैसे ही हमें लौकिक ज्ञान का भी प्रचार करना पड़ेगा। यह काम आसानी से हो सकता है। इन्हीं धर्मप्रचारकों तथा व्याख्यानदाताओं के द्वारा हमारे कार्य का विस्तार होता जायेगा; और क्रमश: अन्यान्य स्थानों में ऐसे ही मन्दिर प्रतिष्ठित होंगे, और यह कार्य समस्त भारत को व्याप्त कर लेगा। यही मेरी योजना है।

यह योजना तुमको बड़ी भारी मालूम होगी, पर इसकी इसी समय आवश्यकता है। तुम यह पूछ सकते हो इस काम के लिए धन कहां से आयेगा ? वास्तविक आवश्यकता धन की नहीं है। धन का कोई महत्व नहीं। पिछले बारह वर्षों में

जाग्रत !!

मुझे कभी पता नहीं रहा कि अगले समय का भोजन कहाँ से आयेगा, किन्तु धन या कोई भी वस्तु को जिसकी मुझे इच्छा हो मेरे निकट आना ही चाहिये, क्योंकि वे मेरे गुलाम हैं न कि मैं उनका गुलाम हूं। धनादि प्रत्येक चीज को आना ही होगा, 'आना ही होगा' यही मेरा मत है।

व्यक्ति चाहिए—निष्ठावान् व्यक्ति

अब प्रश्न यह है कि काम करनेवाले लोग कहाँ हैं ? मूल प्रश्न यही है।

मनुष्यों की, केवल मनुष्यों की आवश्यकता है। और सब कुछ हो जायेगा, किन्तु आवश्यकता है वीर्यवान, तेजस्वी, श्रीसम्पन्न और पूर्ण प्रामाणिक नवयुवकों की। मेरी आशायें इस नवोदित पीढ़ी में—आधुनिक पीढ़ी में केन्द्रित हैं। उसी में से मेरे कार्यकर्ता निर्माण होंगे। वे सिंह के समान पूरी समस्या को हल कर देंगे। मैंने अपना लक्ष्य निर्धारित कर लिया है और अपना सम्पूर्ण जीवन उसके लिए समर्पित कर दिया है। यदि मैं सफलता प्राप्त नहीं कर पाता तो उसे पूरा करने के लिए कोई अन्य आयेगा और मुझे संघर्ष करते रहने में ही सन्तोष प्राप्त होगा।

तुम सब अपने में यह विश्वास रखो कि प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है। बस तभी तुम सारे भारत को पुनरुज्जीवित कर सकोगे। फिर तो हम दुनिया के सभी देशों में जायेंगे और हमारे भाव उन अनेक शक्तियों के अंश स्वरूप हो जायेंगे, जिनके द्वारा संसार का प्रत्येक राष्ट्र ऊपर उठ रहा है। हमें भारत में बसने वाली सभी जातियों के अन्दर प्रवेश करना होगा इसके लिए हमें यत्न करना होगा। इसके लिए मुझे युवक चाहिए। वेदों में कहा है—"तरुण, बलशाली, स्वस्थ एवं तीव्र मेधा वाले ही ईश्वर के पास पहुँच सकते हैं।"

● तुम्हारे भविष्य को निश्चित करने का यही समय है। इसीलिये मैं कहता हूं कि अभी इस भरी जवानी में, इस नये जोश के जमाने में ही काम करो। काम करने का यही समय है। इसलिए अभी अपने भाग्य का निर्णय कर लो और काम में लग जाओ; क्योंकि जो फूल बिल्कुल ताजा है, जो हाथों से मसला नहीं गया है, और जिसे सूंघा नहीं गया है, वही भगवान के चरणों पर चढ़ाया जाता है; उसे ही भगवान् ग्रहण करते हैं।

इसीलिए आओ हम एक महान् ध्येय को अपनायें और उसके लिए अपना जीवन समर्पित कर दें। यही हमारा व्रत हो, और वे परमेश्वर भगवान श्रीकृष्ण, जो हमारे शास्त्रों की घोषणानुसार "अपने प्रियजनों के परित्राण

व उद्धार के लिये बार-बार आविर्भूत होते हैं", हम पर आशीर्वाद की वर्षा करें एवं हमारे उद्देश्य की सिद्धि में सहायक हों।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

(कठ०उप० १.३.४)

उठो, जागो और जबतक लक्ष्य प्राप्त न हो, रुको मत।

—:o:—

भाग २

संभाषण

प्रवचन

एवं

लेखों

से

संकलित

हिन्दू धर्म की मर्यादाएं*

अन्य धर्मावलम्बियों को हिन्दू धर्म में लाने के विषय में स्वामी विवेकानन्द जीके मतामत जानने के लिये सम्पादक ने मुझे आदेश दिया था कि मैं उनसे जाकर मिलूं। एक दिन सायंकाल गंगाजी में नौका पर बैठ कर उनके साथ इस विषय पर वार्तालाप का सुयोग मुझे मिला। उस समय संध्या हो गयी थी। बेलूर-स्थित श्रीरामकृष्ण-मठ के घाट के पास ही हमने नौका खड़ी की थी। स्वामी जी मठ से आये और नौका में बैठकर मेरे साथ वार्तालाप करने लगे।

स्थान और काल दोनों ही परम रमणीय थे। ऊपर आकाश में तारे चमक रहे थे, चारों ओर कल-कल-निनादिनी जाह्नवी बह रही थीं; और एक ओर स्पष्ट रूप से आलोकित मठ दीप्त हो रहा था; उसके पीछे ताल और बड़े-बड़े सायेदार वृक्ष शांत और मौन खड़े थे।

मैंने पहले वार्तालाप शुरू किया। मैंने कहा, "स्वामी जी जिन लोगों ने हिन्दू धर्म छोड़ कर अन्य धर्म को अपना लिए है, उन्हें फिर से हिन्दू-धर्म में लाने के विषय में आपका क्या मत है, यही जानने के लिये में आपसे मिलने आया हूं। आपके मत में क्या उनको फिर से हिन्दूधर्म में लाया जाना चाहिये ?"

स्वामीजी बोले, "अवश्य। उनको अवश्य लाया जा सकता है, और लाना भी चाहिये।"

एक मुहूर्त के लिये स्तब्ध रहकर गम्भीर विचार के बाद वे पुनः कहने लगे, और भी एक बात है, उनको फिर से न लेने पर हमारी संख्या दिनोंदिन घटती जायगी। प्राचीनतम मुसलमान इतिहासकार फरिस्ता के मतानुसार, इस देश में मुसलमानों के प्रथम आगमन के समय यहां के हिन्दुओं की संख्या ६० करोड़ थी। अब हम वीस करोड़ में उतर आये हैं। फिर यह भी बात है कि किसी एक व्यक्ति के हिन्दू समाज को त्याग देने पर इस समाज का एक व्यक्ति केवल कम ही नहीं हो जाता, बल्कि उसके शत्रु की संख्या में एक की वृद्धि हो जाती है।"

---

* प्रबुद्ध भारत, अप्रैल, १८९९

"फिर जो लोग हिन्दू-धर्म को त्याग कर मुसलमान या ईसाई बन गये हैं, उनमें से अधिकांश लोग तलवार के बल पर उन-उन धर्मों को ग्रहण करने को बाध्य किये गए हैं, और आजकल जो मुसलमान व ईसाई हैं, उनमें से अधिकांशत: इन्हीं लोगों के वंशज हैं। इनके हिन्दूधर्म में लौटने के मार्ग में कोई आपत्ति उठाना अथवा बाधा डालना स्पष्टत: अन्याय है। और तुम क्या उन विजातियों के सम्बन्ध में भी पूछ रहे थे, जो हिन्दू समाज के अन्तर्गत कभी भी नहीं थे ? अतीत काल में तो ऐसे झुंडके झुंड विधर्मियों को हिन्दूधर्म में नहीं ले लिया गया था ? वह प्रक्रिया अब भी जारी रखने में क्या आपत्ति हो सकती है।"

"मेरे अपने मत से यह कथन न केवल वनवासियों, पड़ोसी जातियों तथा मुस्लिम शासन के पूर्व के प्राय: हमारे समस्त विजेतागण पर लागू होता है, अपितु उन समस्त जातियों के बारे में भी सत्य है जिनकी विशेष प्रकार से उत्पत्ति का वर्णन पुराण-ग्रंथों में किया गया है। मेरे मत में ये सब लोग विधर्मी थे और उनको हिन्दू बना लिया गया था।"

"जो लोग स्वेच्छा से दूसरे धर्म में चले गये थे, पर अब फिर से हिन्दू धर्म में आना चाहते हैं, उनके लिये प्रायश्चित का अनुष्ठान निस्संदेह उचित है; पर जिनका परधर्म-ग्रहण जोर जबरदस्ती के कारण हुआ था—जैसे कश्मीर और नेपाल में—अथवा जो लोग कभी हिन्दू नहीं थे, ऐसे लोग यदि हिन्दू समाज में आना चाहते हैं, तो उन सबके लिये किसी प्रकार के प्रायश्चित का विधान नहीं होना चाहिये।"

मैंने कुछ साहस करके पूछा, "स्वामी जी, पर इन लोगों की जाति कौन सी होगी ? उनका किसी न किसी जाति के अन्तर्गत रहना नितान्त आवश्यक, है अन्यथा वे कभी भी इस विशाल हिन्दू-समाज में समरस हो उससे एक न हो सकेंगे। हिन्दूसमाज में उनका यथार्थ स्थान कहां पर है ?"

स्वामी जी शांतिपूर्वक बोले, "जो लोग पहले हिन्दू थे, वे अवश्य ही अपनी पहली जाति में लौट जायेंगे, और जो नये आयेंगे, वे अपनी जाति आप ही बना लेंगे।"

वे कहते चले, "तुम्हें स्मरण होगा कि वैष्णवों में यह बात पहले से ही पाई जाती है। हिन्दुओं की विभिन्न जातियों में से जिन्होंने अन्य धर्म ग्रहण कर लिया था, उन्होंने तथा अहिन्दुओं ने वैष्णवों के आश्रय में आकर अपनी एक स्वतन्त्र हिन्दू जाति बना ली, और यह जाति भी न कोई तुच्छ थी न हीन ही—वह तो अच्छी शिष्ट जाति ही बनी। आचार्य रामानुज से लेकर बंगाल के श्री चैतन्य महाप्रभु तक समस्त वैष्णव आचार्यों ने यही किया है।"

मैंने पूछा, "इस नवीन जाति का विवाह-संस्कार आदि कहां होगा ?"

स्वामी जी ने शान्त भाव से उत्तर दिया, "क्यों, आजकल जैसा चल रहा है, वैसा ही वे आपस में विवाह करेंगे।"

मैंने पूछा, "फिर नामकरण की भी बात है। मेरी राय में अहिन्दू तथा जिन्होंने स्वधर्म का त्यागकर अहिन्दू नाम रख लिया था, उन दोनों का नया नामकरण होना उचित है। उनका आप जाति-सूचक नाम देंगे या अन्य कोई ?"

स्वामी जी सोचते हुए कहने लगे, "हाँ, नाम का भी काफी महत्व है।"

वे इस विषय में और अधिक कुछ नहीं बोले। परन्तु उसके बाद मैंने जो प्रश्न किया उससे वे मानों उद्दीप्त से हो उठे। मैंने पूछा, "स्वामी जी, ये नवागत लोग हिन्दू-धर्म की विभिन्न शाखाओं में से अपने लिए किसी उपासना-प्रणाली का निर्वाचन स्वयं ही कर लेंगे, या आप उनके लिए किसी योग्य उपासना-प्रणाली का निर्देश करेंगे ?"

स्वामीजी बोले, "यह भी कोई पूछने की बात है ? वे अपने पथ का चयन आप ही कर लेंगे, क्योंकि स्वयं चयन न करना हिन्दू धर्म के मूल तत्व के विरुद्ध है। हमारे धर्म का सार तो यही है कि प्रत्येक को अपने इष्ट के चयन का अधिकार है।"

स्वामीजी की इस बात को मैंने विशेष महत्वपूर्ण समझा। कारण, मेरी समझ में, मेरे सम्मुख इस महापुरुष ने वैज्ञानिक बुद्धि और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से हिन्दू धर्म के साधारण आधारों की आलोचना और अध्ययन में संसार के अन्य किसी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक समय बिताया है और यह इष्ट निर्वाचन की स्वाधीनता का सिद्धान्त इतना उदार है कि सारा संसार इसमें स्थान पा सकता है।

इसके बाद दूसरे विषयों पर वार्तालाप हुआ। अन्त में प्रेमपूर्वक मुझसे विदा लेकर वे महान् धर्माचार्य अपनी लालटेन उठाकर मठ लौट गये और मैं भी गंगा के ऊपर से, उसकी तरंगों पर हिलती-डुलती विभिन्न आकारों की नौकाओं के बीच से होते हुए अपने कलकत्ता-स्थित निवासस्थान पर लौट आया।

● ● ●

अपने धर्म की रक्षा के लिये डट जाओ

"भाई सिन्हा, यदि कोई व्यक्ति तुम्हारी माता का अपमान करे तो तुम क्या करोगे ?"

"श्रीमन् मैं उस पर टूट पड़ूंगा, और उसको एक अच्छा पाठ पढ़ा दूंगा।"

"बहुत ठीक" उन्होंने कहा, "लेकिन अब यदि यही आत्मीयता तुममें अपने धर्म, जो इस राष्ट्र की सच्ची जननी है, के प्रति होती, तो तुम किसी भी हिन्दू बन्धु का ईसाई धर्म में परिवर्तन देखना सहन नहीं कर पाते। तिस पर भी, तुम यह नित्य प्रति होता देख रहे हो और तुम उसकी ओर से पूर्णतया उदासीन हो ? तुम्हारी श्रद्धा कहां है ? तुम्हारी देशभक्ति कहां गयी ? तुम्हारी आंखों के सामने नित्य-प्रति ईसाई

प्रचारक हिन्दू धर्म को गाली देते हैं और तब भी तुममें से कितने लोग हैं जो उसकी रक्षा के लिये खड़े होने को तैयार हैं, जिनका रक्त सात्विक क्षोभ खौलने लगता है ?

● ● ●

भारतीय नारी—उसका अतीत, वर्तमान और भविष्य*

हमारे प्रतिनिधि लिखते हैं :—

आखिर एक रविवार को बड़े सवेरे ही मैं सम्पादक महोदय का आदेश पालन करने में समर्थ हुआ। भारतीय नारियों की अवस्था और उनके भविष्य के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द का मतामत जानने के लिये मैंने उनसे हिमालय की एक सुन्दर उपत्यका में भेंट की।

मैंने जब स्वामी जी को अपने आने का उद्देश्य बतलाया तो वे बोले, "चलो थोड़ा टहल आयें।" हम लोग उसी समय बाहर निकल पड़े। अहा ! कैसा मनोहर दृश्य था। ऐसा दृश्य संसार में शायद ही हो।

कहीं धूप और कहीं छाया से ढके मार्गों को काटते हुए हम शान्तिपूर्ण ग्रामों में चले जा रहे थे। कहीं ग्रामीण बच्चे आनन्द से खेल-कूद कर रहे थे, और कहीं चारों ओर सुनहले खेत लहलहा रहे थे। ऊँचे-ऊँचे वृक्ष ऐसे दीखते थे, मानों वे नील गगन को पार कर उसके परे चले जाना चाहते हों। खेतों में कहीं पर कुछ कृषक-बालाएँ हाथों में हंसिया लिए शीत ऋतु के लिए बाजरे के भुट्टे काटकर इकट्ठा कर रही थीं, तो अन्य कहीं सेवों की एक सुन्दर वाटिका दिखायी देती थी जिसमें वृक्षों के नीचे लाल फलों के ढेर बड़े ही सुहावने लगते थे। फिर कुछ क्षण बाद ही हम खुले मैदान में आ पडे और हमारे सामने हिमाच्छादित शुभ्र शिखर अभ्रमाला को चीर कर अद्भुत सौंदर्य के साथ विराजमान थे।

अन्त में स्वामी जी ने मौन भंग करते हुए कहा, "आर्यों और सेमिटिक लोगों के नारी सम्बन्धी आदर्श सदैव एक दूसरे के बिलकुल विपरीत रहे हैं। सेमिटिक लोग स्त्रियों की उपस्थिति को उपासना-विधि में घोर विघ्न स्वरूप मानते हैं। उनके अनुसार स्त्रियों को किसी प्रकार के धर्म-कर्म का अधिकार नहीं है, यहाँ तक कि आहार के लिए पक्षी मारना भी उनके लिए निषिद्ध है। आर्यों के अनुसार तो सहधर्मिणी के बिना पुरुष कोई धार्मिक कार्य नहीं कर सकता।"

ऐसी अप्रत्याशित और स्पष्ट बात से मैं तो आश्चर्यचकित हो गया। मैंने पूछा "किन्तु स्वामी जी, क्या हिन्दू-धर्म आर्य-धर्म का अंग विशेष नहीं है ?"

स्वामी जी ने शान्त स्वर में कहा, "आधुनिक हिन्दू-धर्म अधिकांशत: एक पौराणिक धर्म है, जिसका उद्गम बौद्धकाल के पश्चात् हुआ है। दयानन्द सरस्वती ने यह दर्शाया कि यद्यपि गार्हपत्य अग्नि में आहुति प्रदान करने की जो वैदिक क्रिया है, उसके

*(प्रबुद्ध भारत, दिसम्बर १८९८)

अनुष्ठान में सहधर्मिणी की उपस्थिति नितान्त अनिवार्य है, पर तो भी वह शालग्राम-शिला अथवा गृह-देवता की मूर्ति को स्पर्श नहीं कर सकती, क्योंकि इस प्रकार की पूजा का प्रचलन पौराणिक काल के उत्तरार्ध से हुआ है।"

"अतः आपके अनुसार हमारे देश में पाया जाने वाला स्त्री-पुरुष के अधिकारों का भेद पूर्णतः बौद्ध-धर्म के प्रभाव के कारण है ?"

"हां ! जहाँ कहीं भी यह भेद पाया जाता है, वहाँ तो मैं ऐसा ही सोचता हूँ। पाश्चात्य आलोचना की आकस्मिक बाढ़ से प्रभावित होकर और पाश्चात्य नारियों की तुलना में अपने देश की नारियों की अवस्था भिन्न देख कर हम भारत में नारी के प्रति असमानता के उनके आरोप को चुपचाप स्वीकार न कर लें। विगत कई सदियों से भारत में ऐसी परिस्थितियों का निर्माण होता रहा है, जिससे हम स्त्रियों का विशेष संरक्षण करने को बाध्य हुए हैं। इस एक तथ्य के, न कि स्त्री जाति के प्रति हीन-दृष्टि के मिथ्या आरोप के प्रकाश में हम अपनी प्रथाओं के यथार्थ स्वरूप को समझ सकेंगे।

"स्वामी जी, तो क्या आप भारतीय स्त्री की वर्तमान दशा से पूर्णतः सन्तुष्ट हैं ?"

"कदापि नहीं। पर स्त्रियों के सम्बन्ध में हमारा हस्तक्षेप करने का अधिकार बस उनको शिक्षा देने तक ही सीमित रहना चाहिये। उनमें ऐसी योग्यता ला देनी होगी जिससे वे अपनी समस्याओं को स्वयं ही अपने ढंग से सुलझा सकें। अन्य कोई उनके लिए यह कार्य नहीं कर सकता, और करने का प्रयत्न भी उचित नहीं है। हमारी भारतीय स्त्रियां अपनी समस्याओं को हल करने में संसार के किसी भी भाग की स्त्रियों से पीछे नहीं हैं।"

"स्वामी जी, क्या आप बतलायेंगे कि हमारे देश में बौद्ध-धर्म के द्वारा वह दोष किस प्रकार पैदा हुआ जिसका अभी आपने उल्लेख किया ?"

स्वामी जी :—"इस दोष का जन्म बौद्ध-धर्म के पतन-काल में हुआ। प्रत्येक आन्दोलन किसी असाधारण विशेषता के कारण ही संसार में सफलता प्राप्त करता है, पर जब उसका पतन होता है, तब उसकी यह अभिमानास्पद विशेषता ही उसकी दुर्बलता का एक मुख्य उपादान बन जाती है। नर श्रेष्ठ भगवान बुद्ध में संगठन करने की अद्भुत शक्ति थी, और इसी शक्ति के बल पर उन्होंने ससार को अपना अनुगामी बनाया था। किन्तु उनका धर्म केवल संन्यासियों के लिए ही उपयोगी था अतः उसका एक कुफल यह हुआ कि सन्यासी की भूषा तक सम्मानित होने लगी। फिर उन्होंने सर्वप्रथम मठ-प्रथा अर्थात् धर्म-संघ में रहने की प्रथा का प्रवर्तन किया। इसके लिए उन्हें बाध्य होकर स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा निम्न स्थान देना पड़ा, क्योंकि प्रमुख भिक्षुणियां कुछ विशिष्ट मठ-अध्यक्षों की अनुमति के बिना किसी भी महत्वपूर्ण कार्य में हाथ नहीं डाल सकती थीं। इससे उनके तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति तो अवश्य हुई,

अर्थात् उनके धर्म-संघ की एक सूत्रता बनी रही किन्तु उसके दूरगामी परिणाम अनिष्ट हुए।"

"परन्तु स्वामी जी, संन्यास धर्म तो वेदविहित है।"

'अवश्य, संन्यास वेद-प्रतिपादित है, पर वहाँ स्त्री पुरुष का कोई भेद नहीं किया गया है। क्या तुम्हें स्मरण है कि विदेहराज जनक की राजसभा में किस प्रकार धर्म के गूढ़ तत्वों पर महर्षि याज्ञवल्क्य से वाद-विवाद हुआ था ? इस वाद-विवाद में ब्रह्म-वादिनी वाचक्नवी (गार्गी) ने प्रधान भाग लिया था। उसने कहा था, "मेरे दो प्रश्न मानों कुशल धनुर्धारी के हाथ में के दो तीक्ष्ण बाण हैं।" वहाँ पर उसके स्त्री होने के सम्वन्ध में कोई प्रसंग तक नहीं उठाया गया है। तुम्हें विदित ही होगा कि प्राचीन गुरुकुलों में वालक और बालिकाएं समान रूप से शिक्षा ग्रहण करती थीं। इससे अधिक साम्यभाव और क्या हो सकता है ? हमारे संस्कृत नाटकों को पढ़कर देखो–शकुन्तला का आख्यान पढ़ो, और फिर देखो, टेनिसन की 'राजकुमारी' में हमारे लिए क्या कोई नयी शिक्षाप्रद बात प्राप्त हो सकती है ?"

"स्वामीजी, आप में हमारी अतीत गौरव गरिमा को इतने सुन्दर ढंग से प्रकट करने की बड़ी अद्भुत क्षमता है !"

स्वामी जी शान्पूितर्वक वोले, "सम्भव है, इसका कारण यह हो कि मैंने पृथ्वी के दोनों गोलार्द्धों का पर्यटन किया है। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि जिस जाति ने सीता को उत्पन्न किया—चाहे वह उसकी कल्पना ही क्यों न हो—उस जाति में स्त्री-जाति के लिए इतना अधिक सम्मान और श्रद्धा है, जिसकी तुलना संसार में हो ही नहीं सकती। पाश्चात्य स्त्रियां ऐसे कई कानूनी वन्धनों से जकड़ी हुई हैं, जिनसे भारतीय स्त्रियां सर्वथा मुक्त एवं अपरिचित हैं। भारतीय समाज में निश्चय ही दोप और अपवाद दोनों हैं, पर यही स्थिति पाश्चात्य समाजों की भी है। हमें यह कभी न भूलना चाहिये कि संसार के सभी भागों में प्रीति, कोमलता और साधुता को अभिव्यक्त करने के प्रयत्न चल रहे हैं, और विभिन्न जातीय प्रथाएं इन्हीं को यथासम्भव प्रकट करने की प्रणाली मात्र हैं। जहां तक गार्हस्थ्य धर्म का सम्वन्ध है, मैं बिना किसी संकोच के कह सकता हूं कि भारतीय प्रणाली में अन्य देशों की अपेक्षा अनेक सद्गुण विद्यमान हैं।"

"स्वामी जी, तो क्या भारतीय स्त्री-जीवन के सम्वन्ध में हम इतने सन्तुष्ट हैं कि हमारे समक्ष उसकी कोई भी समस्याएं नहीं हैं ?"

'क्यों नहीं, वहुत सी समस्याएं हैं—और ये समस्याएं वड़ी गम्भीर हैं; परन्तु इनमें से कोई ऐसी नहीं है, जो 'शिक्षा' के द्वारा हल न हो सके। पर हां, शिक्षा की सच्ची कल्पना हममें से कदाचित् ही किसी को हो।"

"स्वामी जी, शिक्षा की आप क्या परिभाषा देते हैं ?"

स्वामी जी ने स्मित-हास्य से कहा, "मैं परिभाषाएं देने के विरुद्ध हूँ। पर इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सच्ची शिक्षा वह है, जिससे मनुष्य की मानसिक शक्तियों का विकास हो। वह केवल शब्दों का रटना मात्र नहीं है। शिक्षा का वास्तविक अर्थ है—व्यक्ति में योग्य कर्म की आकांक्षा एवं उसको कुशलतापूर्वक करने की पात्रता उत्पन्न करना। हम चाहते हैं कि भारत की स्त्रियों को ऐसी शिक्षा दी जाय, जिससे वे निर्भय होकर भारत के प्रति अपने कर्तव्य को भली-भांति निभा सकें और संघमित्रा, लीला, अहिल्याबाई तथा मीराबाई आदि भारत की महान् देवियों द्वारा चलाई गई परम्परा को आगे बढ़ा सकें एवं वीरप्रसू बन सकें। भारत की स्त्रियां पवित्र और त्यागमूर्ति हैं, क्योंकि उनके पास वह बल और शक्ति है, जो सर्वशक्तिमान परमात्मा के चरणों में सर्वस्वार्पण करने से प्राप्त होती है।"

"स्वामी जी, इससे प्रतीत होता है कि आपके विचारानुसार शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का भी समावेश होना चाहिए।"

स्वामी जी ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया, "मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि धर्म शिक्षा का मेरुदण्ड ही है। हां, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यहाँ धर्म से मेरा मतलब, मेरा, तुम्हारा या अन्य किसी का उपासना मत नहीं है। मेरे मत से, अन्य विषयों के समान इस सम्बन्ध में भी शिक्षक को छात्र के भाव और धारणा के अनुसार शिक्षा देना प्रारम्भ करना चाहिये तथा उसे उन्नत करने के लिये ऐसा सहज पथ दिखा देना चाहिये, जिससे उसे सबसे कम बाधाओं का सामना पड़े।"

"क्या ब्रह्मचर्य-पालन को अत्यधिक धार्मिक महत्व देने का अर्थ मातृत्व और पत्नीत्व को समाज में उनके सर्वोच्च स्थान से वंचित कर, वहाँ उस स्त्रीवर्ग को प्रतिष्ठित करना नहीं है जो पवित्र दायित्वों से परे भागती हैं?"

"तुम्हें स्मरण रहना चाहिये कि हमारे धर्म में स्त्री और पुरुष दोनों के लिये ब्रह्मचर्य की महिमा समान रूप से बतायी गयी है। तुम्हारे प्रश्न से यह भी ज्ञात होता है कि तुम्हारे मन में कुछ भ्रम फैला हुआ है। हिन्दू धर्म में मानवात्मा का केवल एक ही कर्तव्य बतलाया गया है और वह है इस अनित्य और नश्वर जगत में नित्य एवं शाश्वत पद की प्राप्ति। उसकी प्राप्ति के लिए कोई एक ही बंधा हुआ मार्ग नहीं है। विवाह हो या ब्रह्मचर्य, पाप हो या पुण्य, ज्ञान हो या अज्ञान—इनमें से प्रत्येक की सार्थकता हो सकती है, यदि वह इस चरम लक्ष्य की ओर ले जाने में सहायता करे। बस यहीं पर हिन्दू धर्म और बौद्धधर्म में महान् अन्तर है। क्योंकि बौद्धधर्म में जीवन का प्रधान लक्ष्य और वह भी मोटे तौर पर केवल एक ही मार्ग से बाह्य जगत की क्षणिकता का अनुभव कर लेना मात्र है। क्या तुम्हें महाभारत में वर्णित उस युवक योगी का वृत्तान्त विदित है, जिसने अपने क्रोध से उत्पन्न अपनी प्रबल मानसिक शक्ति के प्रभाव से एक कौए और बगुले को भस्म कर यौगिक शक्तियों के प्रदर्शन में

धन्यता मानी थी ? क्या तुम्हें स्मरण है कि एक दिन यही योगी किसी नगर में पहुँचकर देखता है कि एक स्त्री अपने रोगी पति की सेवा-सुश्रूषा में निरत है, तथा एक धर्म नामक कसाई मांस को बेच रहा है, परन्तु इन दोनों ने अपने कर्तव्य का पूरा-पूरा पालन करके पूर्ण ज्ञान का साक्षात्कार कर लिया था ?"

"तो स्वामी जी, आपका इस देश की स्त्रियों के लिए क्या सन्देश है ?"

"वही, जो पुरुषों के लिये है । भारत और भारतीय धर्म के प्रति विश्वास और श्रद्धा रखो । तेजस्विनी बनो, हृदय में उत्साह भरो, भारत में जन्म लेने के कारण लज्जित न हो, वरन् उसमें गौरव का अनुभव करो और स्मरण रखो कि यद्यपि हमें दूसरे देशों से कुछ लेना अवश्य है, पर हमारे पास दुनियां को देने के लिये दूसरे की अपेक्षा सहस्रगुना अधिक है ।

● ● ●

भारतीय और पाश्चात्य नारी*

न्यूयार्क में भाषण देते हुए एक समय स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा था—"मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी, यदि भारतीय स्त्रियों की ऐसी ही बौद्धिक प्रगति हो, जैसी इस देश में हुई है; परन्तु वह उन्नति तभी अभीष्ट है, जब वह उनके पवित्र जीवन और सतीत्व को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए हो । मैं अमेरिका की स्त्रियों के ज्ञान और विद्वत्ता की बड़ी प्रशंसा करता हूं, परन्तु मुझे यह अनुचित दिखता है कि आप बुराइयों को भलाइयों का रंग देकर छिपाने का प्रयत्न करें । बौद्धिक विकास से ही मानव का परम कल्याण सिद्ध नहीं हो सकता । भारत में नीतिमत्ता और अध्यात्मिक उन्नति को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है, और हम उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं । यद्यपि भारतीय स्त्रियाँ उतनी शिक्षा-सम्पन्न नहीं हैं, फिर भी उनका आचार-विचार अधिक पवित्र होता है । प्रत्येक स्त्री को चाहिये कि वह अपने पति के अतिरिक्त सभी पुरुषों को पुत्रवत् समझे ।

प्रत्येक पुरुष को चाहिये कि वह अपनी पत्नी के अतिरिक्त सभी स्त्रियों को मातृवत् समझे । जब मैं इस आचरण को, जिसे आप नारी-सम्मान का भाव कहते हो, अपने चारों ओर देखता हूँ तब मेरा हृदय क्षोभ से भर जाता है । जब तक आप स्त्री-पुरुष के भेद को भूलकर प्रत्येक व्यक्ति में मानवता का दर्शन नहीं करते तब तक इस देश की स्त्रियों की यथार्थ उन्नति नहीं हो सकती । इस दशा को प्राप्त किए बिना तो आपकी स्त्रियाँ खिलौने से अधिक और कुछ भी नहीं हैं, और इसी कारण यहाँ इतने विवाह विच्छेद होते हैं । यहां के पुरुष स्त्रियों के सम्मुख झुकते और उन्हें आसन प्रदान करते हैं; परन्तु एक क्षण के उपरान्त वे उनकी चापलूसी करने लगते

* न्यूयार्क के एक भाषण से उद्धृत

हैं; वे उनके नख-शिख सौन्दर्य की प्रशंसा करना आरम्भ कर देते हैं। आपको ऐसा करने का क्या अधिकार है ? कोई पुरुष इतनी दूर तक जाने का साहस ही कैसे कर पाता है ? और यहाँ की स्त्रियां उसको सहन भी कैसे कर लेती हैं ? इस प्रकार के आचरण से मनुष्य में निम्नतर भावों का उद्रेक होता है, उससे उच्च आदर्श की प्राप्ति सम्भव नहीं।

हमें स्त्री-पुरुष के भेद का विचार मन में नहीं रखना चाहिए, केवल यही चिन्तन करना चाहिए कि हम सभी मानव है और परस्पर एक दूसरे के प्रति सद्व्यवहार और सहायता करने के लिए उत्पन्न हुए हैं। हम यहां देखते हैं कि ज्यों ही किसी नवयुवक और नवयुवती को अकेले होने का अवसर मिला, त्यों ही वह नवयुवक उस नवयुवती के रूप-लावण्य की प्रशंसा आरम्भ कर देता है, और किसी स्त्री को विधिवत पत्नी रूप में अंगीकार करने के पूर्व ही वह दो सौ स्त्रियों से प्रेमाचार कर चुका होता है। मैं यदि इन विवाहेच्छुकों में से एक होता, तो बिना किसी आडम्बर के ही किसी का प्रिय पात्र बन जाता।

जब मैं भारतवर्ष में था और इन चीजों को केवल दूर से देखता सुनता था, तब मुझे बताया गया कि उनमें कोई दोष नहीं है, यह केवल मनोविनोद है। उस समय मैंने उस पर विश्वास कर लिया था। तब से अब तक मुझे बहुत यात्रा करने का अवसर आया है, और मेरा दृढ़ विश्वास हो गया है कि यह अनुचित है, यह अत्यन्त दोषपूर्ण है। केवल आप पाश्चात्यवासी ही अपनी आंखें बन्दकर इसे निर्दोष कहते हैं। पाश्चात्य राष्ट्रों का अभी यौवन है, साथ ही साथ वे अनभिज्ञ, चंचल और धनवान हैं। जब इन गुणों में से किसी एक के प्रभाव में ही मनुष्य कितना क्या अनर्थ कर डालता हैं तब जहाँ ये तीनों चारों एकत्र हो वहां कितना भीषण अनर्थ हो सकता है ? वहाँ का तो फिर कहना ही क्या।" अतः सावधान !

सायनाचार्य का पुनर्जन्म

स्वामी जी—क्या तुम जानते हो कि मेरी धारणा है कि सम्भवतः सायनाचार्य ने ही वेदों पर अपने भाष्य का पुनरुद्धार करने हेतु मैक्समूलर के रूप में पुनर्जन्म लिया है ? मेरी यह धारणा बहुत दिनों से बनी हुई थी। मैक्समूलर से भेंट करने के पश्चात् मेरी यह धारणा दृढ़ हो गयी। अपने देश में भी तुम्हें शायद कोई ऐसा विद्वान न मिलेगा जिसका वेदों और वेदान्त में इतना प्रवेश हो और जो इतना अध्यवसायी हो। और, इस सबके ऊपर, उनमें श्री रामकृष्ण परमहंस के प्रति कितनी अगाध श्रद्धा है ! क्या तुम्हें पता है कि वे उन्हें दैवी अवतार मानते हैं ? और जब मैं उनका अतिथि था तो उन्होंने मेरे प्रति कितने अधिक स्नेह का परिचय

दिया ! उस वृद्ध पुरुष एवं उनकी पत्नी के दर्शन कर मुझे लगा मानो वे अपना गृहस्थ जीवन वशिष्ठ और अरुन्धती के समान बिता रहे हों। मुझे विदा करते समय उस वृद्ध मनीषी की आंखे अश्रु-पूर्ण हो आयीं।

शिष्य—किन्तु श्रीमन् ! यदि सायण स्वयं मैक्समूलर बन कर आये हैं तो उन्होंने इस पवित्र भारत भूमि पर जन्म न लेकर म्लेच्छ रूप में जन्म लेना क्यों उचित समझा ?

स्वामी जी—'मैं आर्य हूं और दूसरा म्लेच्छ'—यह भेदभाल अज्ञानवश उत्पन्न होता है। किन्तु जो ज्ञान के ज्योतिपुंज वेदों का भाष्यकार है, उसके निकट वर्णाश्रम और जातिभेद कहां ? उसके लिये ये सब अर्थहीन हैं। वह मानवता के कल्याण के लिए अपनी इच्छानुसार कहीं भी मानव देह ग्रहण कर सकता है विशेष कर यदि वह ऐसे देश में, जो वैभव और विद्वता दोनों में सर्वोपरि है, जन्म लेना न चुनते, तो इन विशाल ग्रंथों के प्रकाशन हेतु उन्हें इतनी विशाल धनराशि कहां से उपलब्ध होती ? क्या तुमने नहीं सुना कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ऋग्वेद प्रकाशन के लिये नकद नौ लाख रुपये प्रदान किये थे ? किन्तु यह धनराशि भी पर्याप्त न निकली ! इस देश में सैकड़ों वैदिक पण्डितों को मासिक वेतन के आधार पर इस कार्य के लिये जुटाया गया। क्या किसी ने इस देश में इस युग में ज्ञान के लिये इतनी उत्कट तड़प न देखी है ? ज्ञान और सत्य के लिये धन का इतना उदार विनियोग देखा है ? मैक्समूलर ने अपने प्राक्कथन में स्वयं लिखा है कि पच्चीस वर्ष उन्होंने केवल पांडुलिपि तैयार करने में लगाये। तब मुद्रण में बीस और लगाये ! साधारण मनुष्य के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह एक प्रकाशन के हेतु जीवन के पैंतालिस वर्षों तक स्वयं को रगड़ता रहे। जरा इस पर विचार तो करो ! इसके बाद यदि मैं कहूं कि वह सायण स्वयं है तो क्या यह मेरी कल्पना की उड़ान मात्र है ?

आर्य और योरोपीय सभ्यताओं का ताना-बाना*

यदि हम वस्त्र को सभ्यता का रूपक मानें तो यूरोपीय सभ्यता के ये उपकरण हुए :—समुद्र तट पर स्थित एक समशीतोष्ण पहाड़ी प्रदेश उसका करघा बना और अनेक जातियों की समष्टि से पैदा हुई एक बलिष्ठ तथा सदा युद्ध लोलुप सम्मिश्र जाति इसकी रुई हुई। इसका ताना हुआ युद्ध। अपनी और समाज की रक्षा के लिये जो तलवार चला सकता है वही खड़ा हुआ। जो तलवार चलाना नहीं जानता वह स्वाधीनता का विसर्जन कर किसी वीर की छत्रच्छाया में रह जीवन व्यतीत करने लगा। इस वस्त्र का बाना हुआ व्यापार-वाणिज्य। इस सभ्यता का साधन था—तलवार; सहायक बने—साहस तथा शारीरिक सामर्थ्य; और उद्देश्य है—लौकिक और पारलौकिक सुख-प्राप्ति।

"प्राच्य और पाश्चात्य" से उद्धृत

हमारी सभ्यता शान्तिप्रिय है

अब हम अपनी सभ्यता को देखें। हम आर्य लोग शान्तिप्रिय हैं, हमारा व्यवसाय कृषि प्रधान था और हम केवल इतने में परम सन्तोष और प्रसन्नता का अनुभव कर लेते थे; यदि हम अपने परिवार का बिना किसी बाधा के पालन-पोषण कर पाये।

ऐसी-जीवन रचना में हमारे पास पर्याप्त अवकाश था। अतः हमें चिन्तन करने एवं सभ्य बनने के लिए पर्याप्त अवसर मिल सका। हमारे जनक राजा अपने हाथों से हल भी चलाते थे और उस समय के सर्वश्रेष्ठ आत्मविद् भी थे। यहां आरम्भ से ही ऋषि-मुनियों और योगियों का अभ्युदय हुआ था। वे लोग आरम्भ से ही जानते थे कि संसार मिथ्या है। लड़ना-झगड़ना वेकार है। जिस आनन्द की तुम खोज कर रहे हो वह तो केवन 'शान्ति' में ही निहित है और वह शान्ति निहित है ऐहिक सुखोपभोगों के परित्याग में। आनन्द का वास मानसिक उन्नति और बौद्धिक विकास में है, न कि शारीरिक भोगों में। इन आत्मविदों ने ही जंगलों को कृषि-योग्य बनाकर सभ्यता का विस्तार किया।

इस प्रकार परिष्कृत भूमि पर वैदिक यज्ञवेदी की स्थापना हुई और भारत के निर्मल आकाश में यज्ञों का पवित्र धुआँ उठने लगा। उस शान्तिमय वातावरण में वेदमंत्र ध्वनित और प्रतिध्वनित होने लगे और गाय, बैल आदि सब पशु निश्शंक विचरने लगे। अब तलवार का स्थान विद्या और धर्म के पैर के नीचे हो गया। उस का काम रह गया सिर्फ धर्म-रक्षा करना तथा मनुष्य एवं अन्य प्राणियों का परित्राण करना। वीरों का नाम आपद्-त्राता-क्षत्रिय पड़ा। हल-तलवार आदि सबका अधिपति नियामक हुआ—धर्म। वही राजाओं का राजा है। जगत के निद्रामग्न हो जाने पर भी वह सदा जागृत रहता है। धर्म के आश्रय में सभी स्वाधीन रहते थे।

आर्यों के आगमन का मिथ्या योरोपीय सिद्धांत

और तुम्हारे योरोपीय पंडितों का यह कथन कि आर्य लोग किसी अन्य देश से आकर भारत पर झपट पड़े, और वे यहां के मूल निवासियों का समूलोच्छेदन कर उनकी भूमि को बलपूर्वक छीन कर यहाँ पर बस गये, निरी मूर्खता और वाहियात बात है। आश्चर्य तो इस बात का है कि हमारे भारतीय विद्वान् भी उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाते हैं और यही सब झूठी बातें हमारे बाल-बच्चों को पढ़ाई जाती हैं। यह घोर अन्याय है।

मैं स्वयं अल्पज्ञ हूँ, विद्वत्ता का दावा नहीं करता; किन्तु जो समझता हूँ उसे ही लेकर मैंने पेरिस की कांग्रेस में इसका प्रतिवाद किया था। मैं अनेक भारतीय एवं योरोपीय मनीषियों से इस विषय पर चर्चा कर रहा हूँ और आशा करता हूँ कि

समय मिलने पर मैं इस मिथ्या सिद्धान्त की अनेक आन्तरिक असंगतताओं को दर्शा सकूंगा। मेरा आप लोगों से, अर्थात् भारतीय पण्डितों से भी यही अनुरोध है कृपया अपने प्राचीन ग्रन्थों एवं शास्त्रों की अच्छी प्रकार छान-बीन कीजिये और अपने स्वतन्त्र निष्कर्ष निकालिये।

यूरोपियनों को जिस देश में मौका मिलता है वहाँ के आदिम निवासियों का नाश करके स्वयं मौज से रहने लगते हैं, इसलिए वे समझते है कि आर्य लोगों ने भी वैसा ही किया होगा। यदि ये पश्चिमवासी अपने स्वदेश में केवल अपने सीमित साधनों पर ही पूर्णतया निर्भर रहकर जीवनयापन करते रहते तो उनका वह दरिद्र जीवन उनकी अपनी सभ्यता की कसौटी पर ही घृणित आवारों का जीवन कहलाता। अतः उन्हें दुनिया भर में उन्मत्तों के समान यह खोजते घूमना पड़ता है कि वे लूट-पाट एवं हत्या के द्वारा दूसरों की भूमि के शोषण पर स्वयं सुखोपभोग कर सकें। इसीलिये उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि आर्य लोगों ने भी वैसा ही किया होगा।

किन्तु तुम्हारे पास इस धारणा के पक्ष में क्या प्रमाण है। केवल अनुमान ? तो कल्पना की अपनी इन उड़ानों को अपने पास ही रखो।

किस वेद अथवा सूक्त में तुमने पढ़ा है कि आर्य दूसरे देशों से भारतवर्ष में आये ? इस बात का प्रमाण तुम्हें कहाँ मिला है कि उन लोगों ने जंगली जातियों को मार-काट कर यहाँ निवास किया ? इस प्रकार की वाहियात बातों से क्या लाभ है ? तुम्हारा रामायण का अध्ययन निरर्थक है। फिर व्यर्थ ही उसके आधार पर यह सफेद झूठ क्यों गढ़ रहे हो ?

रामायण आर्यों द्वारा अनार्यों की विजय का उपाख्यान नहीं

भला रामायण क्या है ? क्या आर्यों के द्वारा दक्षिण भारत की जंगली जातियों पर विजय की गाथा ? वाह क्या खूब ? रामचन्द्र सुसभ्य आर्य राजा थे। पर उन्होंने किसके साथ लड़ाई की थी ? लंका के राजा रावण के साथ। अब जरा रामायण पढ़ कर देखो तो पता चलेगा कि वह रावण सभ्यता में रामचन्द्र से बढ़ा-चढ़ा ही था, कम नहीं। लंका की सभ्यता अयोध्या से कम कदापि नहीं उल्टे कहीं बढ़-चढ़ कर थी। फिर प्रश्न उठता है कि वानरादि दक्षिणी जातियां को कब जीत लिया गया ? उल्टे वे सब तो श्री रामचन्द्र जी के मित्र और सहयोगी बन गये थे और यह भी बताओ कि रामचन्द्रजी ने बलि और गुह के कौन से राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया ?

आर्य, सभ्यता रूपी वस्त्र का करघा है। एक विशाल उष्ण, समतल प्रदेश जिस पर यत्र-तत्र नौकारोहण योग्य विशाल नद-नदियां प्रवाहमान हैं। इस वस्त्र की रुई बनी है उन नाना प्रकार की अतिसभ्य, अर्द्धसभ्य एवं असभ्य जातियों को मिलाकर,

जो प्रधानतया आर्य हैं और इसका ताना है, वर्णाश्रमाचार। इसका बाना है मानव प्रकृति की अगभूत संघर्ष और स्पर्धा की प्रवृत्तियों पर विजय।

ऐ योरोपीय लोगों! क्या मैं तुमसे पूछ सकता हूँ कि तुमने अब तक किस देश की दशा को सुधारा है? जहाँ कहीं तुमने दुर्बल जाति को पाया, उसका समूलोच्चाटन कर दिया और उसकी निवास भूमि में तुम खुद बस गये और वे जातियां एकदम नामशेष हो गयीं! तुम्हारे अमेरिका का क्या इतिहास है? तुम्हारे आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, प्रशान्त महासागर के द्वीपसमूह और अफ्रीका का क्या इतिहास है? वहां की मूल जातियाँ आज कहां है? उनका सलमूल उच्चाटन कर दिया गया। तुमने उनका जंगली पशुओं के समान व्यापक संहार कर डाला। जहां तुममें यह सब करने का सामर्थ्य नहीं था केवल वही अन्य जातियां अभी तक जीवित रह सकी हैं।

भारत ने तो ऐसा काम कभी भी नहीं किया। आर्य लोग बड़े दयालु और उदार थे, उनके अखण्ड, समुद्रवत् विशाल हृदय में, अतिमानवीय प्रतिभा-सम्पन्न मस्तिष्क में इन सब आनन्ददायक प्रतीत होने वाले किन्तु क्षणिक और पाशविक व्यवहारों ने किसी समय भी स्थान नहीं पाया और मेरे निर्बुद्ध देशवासियों मैं तुमसे पूछता हूँ कि यदि आर्यों ने यहां के मूल निवासियों का उनकी भूमि पर बसने के लोभ में समूलोच्छेदन कर दिया होता तो क्या यहां वर्ण व्यवस्था की सृष्टि हो पाती?

यूरोप का उद्देश्य है—सबको नाश करके स्वयं अपने को बचाये रखना। आर्यों का उद्देश्य था—सबको अपने समान करना अथवा अपने से भी बड़ा करना। यूरोपीय सभ्यता का साधन तलवार है, और आर्यों की सभ्यता का उपाय—वर्ण विभाग। विभिन्न वर्णों में विभाजन की यह व्यवस्था ही सभ्यता का वह सोपान है, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को उसके संस्कारों एवं अधिकार के अनुरूप उत्तरोत्तर ऊपर उठने का अवसर मिलता है। योरप में केवल बलवान को ही जीने का अधिकार है, दुर्बल के भाग्य में तो केवल मृत्यु का विधान है इसके विपरीत भारतवर्ष में प्रत्येक सामाजिक नियम दुर्बलों की रक्षा के हेतु ही बनाया गया।

—:o:—

भाग ३

चिन्तन-कण

एवं

प्रताड़ना

स्फुट विचार

प्रत्येक पुराण में कोई न कोई महासत्य अनुस्यूत है *

प्रत्येक पुराण का मूलाधार कोई न कोई ऐतिहासिक सत्य है। पुराणों का उद्देश्य है—मनुष्य को सूक्ष्म सत्य का उसके विभिन्न रूपों में परिचय कराना। और यदि उनमें कोई ऐतिहासिक सत्यता न हो, तो भी वे अपने द्वारा उपदिष्ट सर्वोच्च सत्य के सम्बन्ध में प्रमाण स्वरूप हैं। उदाहरण के लिये रामायण को ही लें। चरित्र निर्माण की दृष्टि से उसका अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि राम नामक कोई व्यक्ति कभी हुआ ही हो। रामायण या महाभारत के प्रतिपाद्य सत्य की प्रामाणिकता केवल राम और कृष्ण के व्यक्तित्वों की ऐतिहासिकता पर निर्भरनहीं करती। कोई चाहे तो यह धारणा रख सकता है कि ये विभूतियां कभी हुई ही नहीं, किन्तु साथ ही उसे इन रचनाओं को उनके द्वारा मानवता के समक्ष प्रतिपादित महान् विचारों के बारे में सर्वोच्च प्रमाण मानना होगा।

हमारा दर्शन अपनी सत्यता के लिए किसी एकाध विभूति पर निर्भर नहीं है। कृष्ण ने संसार को नयी या मौलिक बात नहीं सिखायी, न ही रामायण ऐसी कोई बात कहने का दावा करती है जो शास्त्रों में नहीं थी। यह ध्यान रखने की बात है कि ईसाई धर्म ईसु के अभाव में, इस्लाम मोहम्मद के बिना और बौद्ध मत बुद्ध के अभाव में नहीं टिके रह सकते। किन्तु हिन्दू धर्म व्यक्ति निरपेक्ष है। और किसी पुराण में सन्निहित दार्शनिक सत्य के मूल्यांकन के लिये हमें इस प्रश्न में उलझने की आवश्यकता नहीं कि उसमें वर्णित पात्र वास्तविक हैं या काल्पनिक।

पुराणों का उद्देश्य जनसाधारण को शिक्षित करना है। उनके रचयिता ऋषि-मुनियों ने कुछ ऐतिहासिक पात्रों को छांट लिया और उन पर अपनी कल्पनानुसार अत्युच्च या अतिनिम्न गुण आरोपित कर दिये तथा मानवी आचरण के नैतिक नियम प्रतिपादित कर दिये। क्या यह अनिवार्य है कि रामायण में वर्णित दशमुखी रावण का

---

*एक भेंट से उद्धृत ['हिन्दू' मद्रास, फरवरी १८९७]

अस्तित्व रहा ही हो ? दशमुख का व्यक्तित्व काल्पनिक है या ऐतिहासिक, इस विवाद से अलग रहकर वह जिस महासत्य का प्रतीक है, उसको समझना चाहिये । तुम कृष्ण का और भी आकर्षक चित्रण कर सकते हो, वह चित्रण केवल तुम्हारे आदर्श की श्रेष्ठता पर निर्भर करेगा । किन्तु पुराणों में निहित महान् दार्शनिक सत्य तब भी वही रहेगा ।

प्रतिक्रियात्मक आन्दोलनों की शीघ्र मृत्यु*

दक्षिण में शंकर और रामानुज के अध्यात्मिक आन्दोलनों के पश्चात् वहां भारतीय परम्परा के अनुसार संयुक्त जातियों और सशक्त साम्राज्यों का उदय हुआ । जिस समय उत्तरी भारत पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक मध्य एशियायी विजेताओं के चरणों में लोट रहा था, उस समय दक्षिण भारत ही भारतीय धर्म, संस्कृति और सभ्यता का शुभस्थल बना । मुसलमानों ने दक्षिण को जीतनेके लिये शताब्दियों तक प्रयास किया, किन्तु उन्हें वहां दृढ़ता से पैर जमाने लायक सफलता नहीं मिल सकी । जिस समय संगठित और सशक्त मुगल-साम्राज्य अपनी देश विजय को पूर्ण करने के निकट पहुंच रहा था, उसी समय दक्षिण के पठारों और पर्वतों ने अपने लड़ाकू कृषक अश्वारोहियों को मैदान में उतार दिया । रामदास और तुकाराम के द्वारा प्रचारित धर्म के लिये वे वीर अपने प्राणों की बलि देने के लिये भी दृढ संकल्प थे । थोड़े ही समय में विशाल मुगल-साम्राज्य का केवल नाम भर रह गया । इस मुस्लिम काल में उत्तरी भारत में जितने भी आन्दोलन चले उनका एक ही प्रयास रहा कि जनता को विजेताओं का धर्म अपनाने से विरत करना । ये विजेता अपने धर्म के अन्दर सबके लिये सामाजिक और अध्यात्मिक समता लाये थे ।

रामानन्द, कबीर, दादू, चैतन्य व नानक के द्वारा स्थापित सभी पन्थों के सभी सन्तों ने परस्पर दार्शनिक मतभेद होते हुए भी मानव-समता का समान रूप से प्रचार किया । उनकी समस्त शक्ति जनता पर इस्लाम के विजय की वेगवती बाढ़ को रोकने में ही खर्च हो गयी और नये विचारों तथा आकांक्षाओं को जन्म देने का उनको अवकाश ही नहीं मिल सका । यद्यपि उन्होंने जनता को उसके प्राचीन धर्म पर अधिष्ठित रखने और मुसलमानों के कट्टरवाद को भंग करने में निस्संदेह सफलता पाई, तथापि वे केवल जीने के लिए संघर्ष करते रहे । वे केवल आत्म-रक्षावादी थे ।

किन्तु सिखों के दशम गुरु श्री गोविन्द सिंह के रूपमें उत्तर भारत में भी एक महान् धर्मप्रवंतक उठे, जो सृजनात्मक प्रतिभा से युक्त थे । उनके अध्यात्मिक प्रयासों का परिणाम प्रख्यात राजनीतिक संगठन सिख पन्थ के उदय के रूप में हुआ । हम

*'भारत का ऐतिहासिक विकास' से उद्धृत

भारत के संपूर्ण इतिहास में वह बात दिखाई देती है कि प्राय: प्रत्येक अध्यात्मिक उत्थान के पीछे देश के छोटे या बड़े भाग में राजनीतिक एकता स्थापित हुई है, जिसने उसको जन्म देने वाली मूल अध्यात्मिक आकांक्षा को बलवती बनाया है; किन्तु मरहठा एवं सिख राज्यों के प्रादुर्भाव के पूर्व जो अध्यात्मिक जागृति आयी, वह प्रतिक्रियात्मक थी। पूना या लाहौर के राज-दरबारों में उस बौद्धिक प्रभा की एक भी किरण को खोजने का प्रयत्न निष्फल होगा, जो मुगल दरबार को घेरे रहती थी। फिर मालव और विजयनगर साम्राज्यों की बौद्धिक आभा से इसकी तुलना बहुत दूर की बात है। बौद्धिक दृष्टि से यह भारतीय इतिहास का सबसे अन्धकारमय काल था। ये दोनों साम्राज्य, जो मुसलमानों के विरुद्ध जन-उन्माद और घृणा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हुए उल्कापात के समान भारतीय गगन पर चमके, उसी क्षण प्रेरणा-शून्य हो गये जब वे घृणा के लक्ष्य मुसलमानों के साम्राज्य को खंड-खण्डित करने में समर्थ हो गये।

पहले 'मनुष्य निर्माण' करो

समस्त स्वस्थ सामाजिक परिवर्तन आन्तरिक अध्यात्मिक शक्तियों की अभिव्यक्ति मात्र हैं। यदि ये आंतरिक शक्तियां बलवती एवं सन्तुलित हैं, तो समाज तदनुसार अपनी रचना स्वयं कर लेगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपना उद्धार स्वयं करना होगा। कोई अन्य उपाय नहीं है। ऐसा ही राष्ट्रों के साथ होता है। फिर प्रत्येक राष्ट्र की महान् सामाजिक व्यवस्थायें उसके अस्तित्व की आधारशिला हैं और उन्हें किसी दूसरी जाति के सांचे में नहीं ढाला जा सकता। जब तक उनमें श्रेष्ठ व्यवस्थाओं का विकास न हो तब तक पुरानी व्यवस्थाओं को नष्ट करना आत्मघात होगा। विकास सदैव धीरे-धीरे होता है।

इन व्यवस्थाओं में दोष निकालना बड़ा सरल है क्योंकि सभी में कुछ न कुछ अपूर्णता होती है। किन्तु मानवता का सच्चा कल्याण वही करता है जो चाहे जिन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत रहने वाले व्यक्ति को उसकी अपूर्णताओं पर विजय पाने में सहायता दे। व्यक्ति के ऊपर उठने पर समाज और उसकी व्यवस्थाओं का ऊपर उठना अवश्यम्भावी है। शीलवान लोग खराब प्रथाओं और नियमों की उपेक्षा कर देते हैं और उनकी जगह ले लेते हैं प्रेम, सहानुभूति और प्रामाणिकता पर आधारित सशक्त नियम। वही राष्ट्र सुखी है जो इतना ऊँचा उठ सके कि उसे न्यूनतम कानूनी पुस्तकों की आवश्यकता रह जाय और जिसे इस या उस व्यवस्था के लिये माथापच्ची करने की आवश्यकता ही न पड़े। सत्पुरुष समस्त नियमों से ऊपर होते हैं और अपने साथियों को वे चाहे जिन परिस्थितियों में रहे हों, ऊपर उठने में सहायता प्रदान करते हैं।

अतएव, भारत का उद्धार व्यक्ति के आत्मिक बल और प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने अन्दर देवत्व के साक्षात्कार पर निर्भर करता है।

उपासना एकान्त में होती है समूह में नहीं *

हम देखते हैं कि धार्मिक उपासना का रूप कभी सामूहिक नहीं हो सकता। धर्म की सच्ची साधना प्रत्येक व्यक्ति का निजी विषय होना चाहिये। मेरा अपना कोई भाव हो सकता है, किन्तु मुझे उसे पवित्र और गुप्त रखना चाहिये; क्योंकि मैं जानता हूं कि आपका भी वही भाव होना आवश्यक नहीं है। दूसरे, मैं प्रत्येक के सामने यह ढिंढोरा पीटकर कि मेरा भाव क्या है, क्या व्यर्थ उपद्रव पैदा करूं ? अन्य लोग आकर मुझसे लड़ने लगेंगे। यदि मैं उन्हें अपना भाव न बताऊँ तो वे ऐसा नहीं करेंगे। किन्तु यदि मैं सबको बताता फिरूं कि मेरा अमुक भाव है तो वे सब निश्चय ही मेरा विरोध करेंगे। अतः उसकी चर्चा करने से लाभ ही क्या ? इस इष्ट को गुप्त ही रखना चाहिये। वह केवल तुम्हारे और ईश्वर के बीच की वस्तु है। धर्म के सैद्धांतिक पक्ष का विवेचन एवं प्रवचन सार्वजनिक तौर पर किया जा सकता है, उसे सामूहिक रूप भी दिया जा सकता है, किन्तु उच्चतर धर्म-साधना को सार्वजनिक रूप नहीं दिया जा सकता। आदेश मिलते ही मैं अपनी धार्मिक भावनाओं को प्रकट नहीं कर सकता। इस स्वांग और उपहास का क्या परिणाम होता है ? यह धर्म का उपहास है, ईश्वर-द्रोह है। इसका फल तुम्हें वर्तमान गिरजाघरों में देखने को मिल सकता है। मनुष्य इस धार्मिक कवायद को कैसे सहन कर सकते हैं ? वहां सैनिक जीवन का सा दृश्य रहता है। "बन्दूक कन्धे पर ले जाओ। नीचे झुको, किताब उठाओ" आदि-आदि सब कुछ यंत्रवत् नियन्त्रित, पांच मिनट तक अनुभूति, पांच मिनट तक तर्क, पांच मिनट तक प्रार्थना—सब पूर्व निर्धारित। इन स्वांगों ने धर्म को हानि पहुँचाई है। इन गिरजाघरों में जी भर कर सिद्धांतों, मतवादों एवं दार्शनिक विषयों का विवेचन हो किन्तु जब उपासना का प्रश्न आये, जो कि धर्म का वास्तविक व्यावहारिक अंश है, तब वह ईसु के इन शब्दों के अनुरूप ही होना चाहिये, "जब तू प्रार्थना करे, तो पूर्णतया अन्तर्गुहा में प्रविष्ट हो, उसका जब तू द्वार बन्द कर ले तब वहां एकान्त में अपने परमपिता से प्रार्थना कर।"

* * *

मूर्तिभंजकों में भी मूर्तिपूजा

समस्त संसार में तुम किसी न किसी रूप में मूर्तिपूजा पाओगे। कहीं वह मूर्ति मनुष्याकार है, जो कि उसका सर्वोत्तम रूप है। यदि मैं किसी मूर्ति की उपासना

---

* "भक्तियोग पर व्याख्या" से उद्धृत

करना चाहूं तो मैं उसका मानव रूप पसन्द करूंगा न कि पशु, भवन या अन्य कोई रूप। एक सम्प्रदाय सोचता है कि एक विशिष्ट रूप ही मूर्ति का सही प्रकार है, अन्य सोचता हैं वह रूप खराब है। ईसाई सोचते हैं कि यदि ईश्वर कबूतर के रूप में आये तो ठीक, किन्तु यदि वह मत्स्यावतार लेकर आये, जैसा कि हिन्दुओं की धारणा है तो वह झूठे हैं, निरा अन्धविश्वास है। यहूदियों की धारणा है कि यदि मूर्ति का रूप ऐसा हो जिसमें "एक सन्दूक पर बैठे हुए दो देवदूत, और एक पुस्तक" दिखाई जाय तो वह बिल्कुल ठीक होगा किन्तु यदि मूर्ति स्त्री या पुरूष रूप में है, तो वह भयानक है। मुसलमानों का विश्वास है कि नमाज पढ़ते समय यदि वे पश्चिम की ओर मुंह कर काबा की मस्जिद और उसके पवित्र 'संगे असवद' (काला पत्थर) का कल्पना-चित्र अपने मस्तिष्क में ला सकें तो वह बहुत अच्छा रहेगा। किन्तु यदि उस कल्पना-चित्र में गिरजाघर आ जाये तो वह घोर मूर्तिपूजा। यही दोष है। किन्तु धर्म के साक्षात्कार की यह आवश्यक सीढ़ियां हैं।

अनायास समाधि अवस्था पाने से हानि*

योगी सिखाता है कि मन स्वयं बुद्धि से परे एक उच्च अवस्था में पहुंच जाता है, जिसे समाधि अवस्था कहते हैं। और जब मन उस अवस्था में पहुंच जाता है तब उसे तर्क-बुद्धिसे परे अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त होता है। उस मनुष्य को पराभौतिक एवं अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तर्क बुद्धि के परे जाने की, सामान्य मानव-प्रवृति को पार करने की इस अवस्था को कभी-कभी ऐसा व्यक्ति भी अनायास प्राप्त कर जाता है जिसे उसकी शास्त्रयुक्त प्रणाली का ज्ञान नहीं हैं। वह उस अवस्था को मानों संयोग से पा जाता है।

योगी कहते हैं कि इस अवस्था को संयोग से पा जाना बहुत खतरनाक होता है। ऐसे अधिकांश मामलों । मस्तिष्क विकृत हो जाने का भय रहता है। और निरपवाद रूप में तुम पाओगे कि ऐसे सब लोग, जो समाधि अवस्था को बिना समझे ही संयोग-वशात् उसमें पहुंच गये, बहुत महान् होने पर भी, अंधेरे में भटकते रहे और सामान्यतया अपने समस्त ज्ञान के उपरांत भी वे कुछ विचित्र अन्धविश्वासों के आधीन हो गये। वे मतिभ्रम के आसानी से शिकार हो जाते हैं। मोहम्मद का दावा था कि एक दिन उन्हें एक गुफा में जिब्राइल नामक एक देवदूत मिला था और स्वर्गिक अश्व 'हरक' पर बैठाकर उन्हें स्वर्ग ले गया था। किन्तु ऐसी बातों के अलावा मोहम्मद ने कुछ अद्भुत सत्योंका भी उद्घोष किया है। यदि तुम कुरान पढ़ो तो तुम्हें उसमें अन्ध-विश्वासों में निगणित अद्भुत सत्य भी मिलेंगे। इसका आप क्या स्पष्टीकरण देंगे ? उस व्यक्ति को अलौकिक प्रेरणा प्राप्त हुई थी, इसमें कोई संदेह नहीं। किन्तु वह

---

*"राजयोग" से उद्धृत

प्रेरणा उन्हें अनायास ही प्राप्त हो गई। उसके लिये उन्होंने शास्त्रीय पद्धति से योगाभ्यास नहीं किया था और जो कुछ कर रहे थे उसके कारणों को नहीं जानते थे। मोहम्मद ने संसार का जितना भला किया उसका विचार करो और अपनी कट्टरवादिता के कारण उन्होंने संसार का कितना बड़ा अपकार किया इसकी भी कल्पना करो। उन उपदेशों के कारण जो करोड़ों मनुष्य मौत के घाट उतारे गये, जो असंख्य मातायें अपने बच्चों से वंचित कर दी गयीं, जो बच्चे अनाथ हो गये, देश के देश उजाड़ दिये गये, करोड़ों-करोड़ों लोग मार डाले गये—जरा इसकी भी कल्पना करो।

इस प्रकार हम मोहम्मद और अन्य महान् धर्मोपदेशकों के जीवनों के अध्ययन से इस संकट को जान सकते हैं। किन्तु साथ ही हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि उन सभी को अलौकिक प्रेरणा प्राप्त हुई थी। जब कभी कोई धर्म-प्रवर्तक अपनी भावुक प्रकृति के वशीभूत हो समाधि अवस्था में पहुँचा, तभी वह वहां से न केवल सत्य के कुछ कण साथ लाया अपितु कुछ कट्टरवादिता, कुछ अन्धविश्वास भी साथ लाया, जिन्होंने संसार को उतनी ही हानि पहुँचाई, जितनी कि उसके उपदेशों से लाभ पहुँचा। असंगतियों के इस ढेर में, जिसे हम जीवन कहकर पुकारते हैं, कोई संगति बैठाने के लिये हमें तर्क-बुद्धि के परे जाना होगा। किन्तु उस स्थिति को शास्त्रीय पद्धति से, शनैः-शनैः सतत् अभ्यास द्वारा, समस्त अन्धविश्वासों से मुक्त होकर, प्राप्त करना ही उचित होगा।

—:o:—

प्रताड़ना

ओ ! अंग्रेजों का अन्धानुकरण करने वालों !*

...इसे तुम लोग भी अच्छी तरह समझ लो जो भीतर-बाहर से साहब बने बैठे हो तथा यह कहकर चिल्लाते घूमते हो—"हम लोग नर-पशु हैं, हे योरोपवासियों ! हमारा उद्धार करो" और यह कहकर धूम मचाते हो कि ईसु आकर भारत में बैठे हैं। ओ बन्धु ! यहां ईसु भी नहीं आये, जिहोवा भी नहीं आये और न आयेंगे ही। वे इस समय अपने घर संभाल रहे हैं, हमारे देश में आने का उन्हें अवसर नहीं है।

इस देश में वही पुरातन शिव जी बैठे हैं, वही काली माई पूजित हैं और वंशी-धारी वंशी बजाते हैं। यह पुरातन शिवनन्दी पर सवार होकर भारतवर्ष से एक ओर सुमात्रा, वोर्नियो, सेलीबिस, आस्ट्रेलिया, अमेरिका के किनारे तक डमरू बजाते हुए एक समय घूमे थे; दूसरी ओर तिब्बत, चीन, जापान, साइवेरिया पर्यन्त पुरातन शिव ने अपने नन्दी को चराया था और अब भी चराते हैं। यह वही महाकाली हैं जिनकी पूजा चीन, जापान में भी होती है जिसे ईसु की मां "मेरी" समझकर ईसाई भी पूजा करते हैं।

यह जो हिमालय पहाड़ है इसके उत्तर में कैलास है, वहां पुरातन शिव का निवासस्थान है। उस कैलास को दस सिर और बीस हाथ वाला रावण भी नहीं हिला सका था. फिर उसे हिलाना क्या किसी पादरी के बस का काम है ? वे पुरातन शिव डमरू बजायेंगे, महाकाली पशु बलि और श्रीकृष्ण जी वंशी बजायेंगे, यही इस देश में हमेशा होगा।

वे हिमालय के समान अडिग हैं। कोई भी प्रयास चाहे वह ईसाई पादरियों का हो या अन्य धर्मोपदेशकों का, उन्हें हिलाने में कभी समर्थ नहीं हो सकेगा। यदि तुम्हें अच्छा नहीं लगता तो हट जाओ। तुम दो-चार लोगों के लिए क्या सारे देश को अपना सर्वनाश करना होगा ? इतनी बड़ी दुनिया तुम्हारे सामने फैली पड़ी है। क्यों नहीं, कहीं अन्यत्र, जहाँ तुम्हारे मनमाने विचरण के लिए पर्याप्त क्षेत्र उपलब्ध

---

*"प्राच्य और पाश्चात्य" से उद्धृत

हो, जाकर अपने लिये स्थान खोजते हो ? ऐसा तो कर ही नहीं सकोगे, साहस कहां है ? इस बूढ़े शिव का अन्न खायेंगे, विश्वासघात करेंगे और ईसु की जय मनायेंगे।

धिक्कार है ऐसे लोगों को, जो साहबों के सामने जाकर गिड़गिड़ाते हैं कि "हम अति नीच हैं, हम बहुत क्षुद्र हैं, हमारा जो कुछ है सब कुछ खराब है।" किन्तु, इनके लिये मैं कहता हूं कि, "हां, यह सब तुम्हारे अपने बारे में सत्य हो सकता है क्योंकि तुम सत्यवादी होने का दावा करते हो और हम तुम पर अविश्वास करें भी क्यों ? किन्तु तुम अपने "हम" के भीतर सम्पूर्ण राष्ट्र को क्यों समेट लेते हो ? बताओ तो यह कहां का शिष्टाचार है ?

आओ मनुष्य बनो*

..... और तुम, लोग क्या करते हो ?.......जीवन भर लम्बी-लम्बी डींगें हांकना। ओ, बकवादियों, तुम हो क्या ? आओ, इन लोगों को देखो और जाकर लज्जा से अपना मुंह छिपा लो। ओ भ्रष्ट बुद्धिवालों ! तुम्हारी तो देश के बाहर निकलते ही जाति चली जायेगी। अपनी खोपड़ी पर सैकड़ों वर्षों के दृढ़ अन्धविश्वासों का कूड़ा-कर्कट लाद कर बैठे, सैकड़ों वर्षों से केवल आहार की शुद्धि-अशुद्धि के झगड़े में ही अपनी समस्त शक्ति को नष्ट करने वाले, सैकड़ों युगों के सामाजिक उत्पीड़न से जिनकी सारी मानवता का कचूमर निकल चुका है, भला बताओ तो सही, तुम कौन हो ? और तुम इस समय कर ही क्या रहे हो ?... मूर्खों, पुस्तकों को हाथ में लिये केवल समुद्र-तट पर विचरण कर, योरोपीय मस्तिष्क की अपचित जूठन को बेसमझे रटना, तीस रुपये की मुंशीगीरी के लिये अथवा बहुत हुआ तो एक वकील बनने के लिये जी-जान से तड़पना, यही तो तरुण भारत की सर्वोच्च महत्वकांक्षा है। तिस पर प्रत्येक छात्र के झुंड के झुंड बच्चे भी पैदा हो जाते हैं, जो भूख से बिलबिलाते, उसके पैरों के चारों ओर चिपककर रोटी के लिये चिल्लाते हैं। क्या समुद्र में इतना पानी भी न रहा कि उसमें तुम, तुम्हारी पुस्तकें, तुम्हारा गाउन और तुम्हारी विश्वविद्यालय की डिग्रियां आदि सब डूब सकें ?

ओ, भारत के उच्च वर्गों !†

तुम आर्य पूर्वजों से अपने वंशानुक्रम का चाहे जितना डिमडिम पीटो, प्राचीन भारत का चाहे जितना गौरव-गान करो, अपनी कुलीनता पर चाहे जितना गर्व करो, किन्तु, ओ भारत के उच्च वर्गों ! क्या तुम समझते हो कि तुम जीवित हो ? तुम अब दस सहस्र वर्ष पुरानी 'ममी' (शव) मात्र रह गये हो। भारत में अब भी जीवन

---

*पत्रावली से

†योरोप यात्रा के संस्मरणों से उद्धृत

का जो थोड़ा बहुत लक्षण शेष है वह उनमें है जिन्हें तुम्हारे पूर्वजों ने "चलती-फिरती लाशें" कहकर पुकारा था। वास्तव में तुम ही "चलते-फिरते शव" हो। तुम्हारे गृह, तुम्हारा फर्नीचर सब इतने निर्जीव और पुराने हो चुके हैं कि वे अजायबघर के नमूने से लगते हैं। तुम्हारे रीति-रिवाजों, रहन-सहन को देख कोई भी प्रत्यक्षदर्शी यह सोचने के लिये विवश हो जाता है कि मानों वह बूढ़ी दादी की कहानी सुन रहा है, और जब कोई तुमसे व्यक्तिगत भेंट करके घर वापस लौटता है तो उसके मन में विचार उठता है कि मानों वह किसी चित्र संग्रहालय में रखे पुराने चित्रों को देखकर चला आ रहा हो। इस माया के जगत में ऐ भारत के उच्च वर्गो, तुम ही वास्तविक माया व रहस्य हो, मरुस्थल की मृग-मरीचिका हो। तुम भूतकाल की—उसकी समस्त विविधताओं की खिचड़ी का प्रतिनिधित्व करते हो। अब वर्तमान काल में जो कुछ तुम्हारा अस्तित्व दीख रहा है वह अजीर्ण के कारण उत्पन्न रात्रि-स्वप्न के अतिरिक्त कुछ नहीं है। तुम भविष्य के शून्य, अस्थि-मांसरहित निरस्तित्व मात्र हो। ओ स्वप्नलोक के जन्तुओं! तुम और अधिक जीवित ही क्यों हो? तुम अतीत भारत के मांसरहित, रक्तरहित कंकाल मात्र हो। क्यों नहीं तुम शीघ्र ही स्वयं को राख बनाकर हवा में विलीन हो जाते? ओह, तुम्हारी अस्थिवत् अंगुलियों पर अभी भी अमूल्य हीरों की अंगूठियाँ हैं, और तुम्हारे दुर्गन्धयुक्त शव के अन्तर में तुम्हारे पूर्वजों द्वारा संचित विशाल खजाने छिपे हैं। अब तक तुम्हें उन्हें सौंपने का अवसर नहीं मिल सका होगा। अब ब्रिटिश शासन-काल में, मुक्त शिक्षा और जागरण के इन दिनों तुम अपनी उस सम्पत्ति को अपने उत्तराधिकारियों को सौंप दो। अरे, जितने शीघ्र हो सके यह कर डालो। तुम स्वयं को शून्य में विलीन कर दो, अन्तर्ध्यान हो जाओ और अपनी जगह नवीन भारत को उठने दो। उसे उठने दो—हल की मुठिया पकड़े किसानों के झोपड़ों से, मछुओं, मोचियों और भंगियों के झोपड़ों से। उसे पंसारी की दूकान में से प्रकट होने दो। कबाड़िये की भट्ठी में से प्रकट होने दो। उसे कल-कारखानों, हाट-बाजारों में से उदित होने दो। उसे वन-उपवनों, गिरि-पर्वतों में से निकलने दो। इन सामान्य लोगों ने सहस्रों वर्षों तक शोषण को झेला है, बिना चूं-चपड़ किये तुम्हारे अत्याचारों को सहा है और परिणामस्वरूप उनमें अद्भुत सहनशक्ति आ गयी है। उन्होंने अनन्त विपदाओं को सहा है, जिसने उन्हें अटूट जीवन-शक्ति प्रदान की है। मुट्ठी भर अनाज पर जीवित रहकर वे समस्त संसार को उलट सकते हैं। उन्हें रोटी क केवल आधा टुकड़ा मिल जाने दो फिर समस्त संसार भी उनकी कर्मशक्ति को रोक नहीं सकेगा। उन्हें रक्तबीज की अक्षय जीवन-शक्ति का वरदान मिला हुआ है, (रक्तबीज दुर्गा सप्तशती में वर्णित एक राक्षस था, जिसके रक्त की प्रत्येक बूंद धरती पर गिरने पर उसके समान एक नये राक्षस को जन्म देती थी) इसके अतिरिक्त उनमें शुद्ध और नैतिक जीवन से उत्पन्न वह अद्भुत

बल है जो संसार में अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। यह शान्तिचित्तता, यह सन्तोष, यह स्नेह, यह मौन, अनवरत कर्मशक्ति, और संकट की घड़ी में सिंह-साहस का परिचय तुम और कहाँ पा सकोगे। ओ अतीत के कंकालों! ये हैं तुम्हारे सामने तुम्हारे भावी उत्तराधिकारी। यह है आनेवाला भारत! इन खजानों को, इन अमूल्य रत्नजड़ित अंगूठियों को जितनी शीघ्र हो सके उनके सामने फेंक दो और हवा में विलीन हो जाओ। फिर कभी दिखायी न दो, केवल अपने कान खुले रखो! तुम अन्तर्ध्यान हुए नहीं कि तुम अपने कानों से पुनर्जाग्रत भारत के जन्म की घोषणा सुनोगे जो लक्षावधि मेघ-गर्जनाओं के समान सम्पूर्ण विश्व में प्रतिध्वनि कर उठेगी, "वाह गुरू की फतह।"

* * *

चैतन्य के 'दिव्य प्रेम' का यह विकृत रूप*

श्री चैतन्य महाप्रभु असीम त्यागी पुरुष थे। वे स्त्री व काम-वासना से बिल्कुल परे थे। किन्तु, परवर्तीकाल में, उनके शिष्यों ने अपने सम्प्रदाय में स्त्रियों को प्रविष्ट कर लिया। चैतन्य के नाम पर वे उनसे अंधाधुन्ध घुल-मिल गये और उनके समस्त कार्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। महाप्रभु ने अपने जीवन में प्रेम का जो आदर्श प्रस्तुत किया था वह पूर्णतया निर्हेतुक था और वासना से रहित था। वह कामुकता-रहित प्रेम कभी जन-साधारण की सम्पत्ति नहीं बन सकता। किन्तु परवर्ती वैष्णव गुरुओं ने चैतन्य के जीवन के वैराग्य-पक्ष पर सर्वप्रथम विशेष आग्रह करने के बजाय उनका समस्त उत्साह उनके प्रेम के आदर्श को जन-साधारण में प्रचारित और अनुप्राणित करने में ही खर्च कर डाला। जिसका परिणाम हुआ कि साधारण लोग उनके दिव्य-प्रेम के उच्च आदर्श को न तो ग्रहण कर सके और न आत्मसात् कर पाये और स्वाभाविक ही उन्होंने उसे नारी और पुरुष के कामुक प्रेम का निम्नतम रूप दे दिया।

इस राष्ट्र की दशा निहारो और देखो कि इस दुर्बुद्ध प्रयास का क्या फल निकला है। उस विकृत प्रेम के व्यापक प्रचार के फलस्वरूप यह सम्पूर्ण राष्ट्र नपुंसक बन गया है—स्त्रियोचित भाव से भर गया है। पूरा उड़ीसा कायरों के देश में परिवर्तित हो गया है। और बंगाल, इन विगत चार सौ वर्षों में राधा-प्रेम के पीछे उन्मत होकर अपना समस्त पुरुषत्व खो बैठा है। ये लोग केवल रोने-चीखने में ही शेर रह गये हैं। यह उनका जातीय स्वभाव-सा बन गया है। जरा उनके साहित्य पर दृष्टिपात करो क्योंकि यही तो किसी जाति के विचारों और भावों का वास्तविक दर्पण होता है। इन चार सौ वर्षों में सम्पूर्ण बंगाली साहित्य से केवल रोने और गिड़गिड़ाने की ही

---

* 'वार्तालाप और चर्चा' से उद्धृत

ध्वनि निकल रही है। उसने एक भी ऐसी कविता को जन्म नहीं दिया जिसमें सच्चा वीर भाव हिलोरें मारता हो।

जब तक हृदय में कामुकता है, उसका एक कण भी शेष है तब तक सच्चा प्रेम हो ही नहीं सकता। उस दिव्य प्रेम के अधिकारी श्रेष्ठ वैरागियों में भी जो महान् हो उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। यदि प्रेम के उस सर्वोच्च आदर्श को जन-साधारण में फैलाने का प्रयास किया गया तो वह अप्रत्यक्ष रूप से मानवी अंत:करण पर शीघ्र अधिकार जमाने वाले सांसारिक प्रेम को उत्तेजित कर देगा। स्वयं को परमात्मा की अर्द्धांगिनी अथवा प्रिया समझ कर ईश्वर के चरणों का ध्यान करने के प्रयास में व्यक्ति हर क्षण अपनी पत्नी का ही चिन्तन करता रहेगा। इसका परिणाम स्पष्ट है, उसे बताने की आवश्यकता नहीं।

* * *

हे ईसाई पादरियों !*

यह सत्य नहीं है कि मैं किसी धर्म के विरुद्ध हूँ। यह भी उतना ही असत्य है कि मैं भारत के ईसाई प्रचारकों के प्रति कटुता रखता हूँ। किन्तु मुझे उनके अमेरिका में धन एकत्रीकरण के कतिपय उपायों पर घोर आपत्ति है। बच्चों की पाठ्य-पुस्तकों में ऐसे चित्रों को प्रकाशित करने का क्या अर्थ है, जिनमें भारतीय माता को अपने बच्चों को गंगा में मगरमच्छ के मुंह में फेंकते हुए चित्रित किया गया है। उसमें भी माता कृष्णवर्णी है किन्तु बच्चे को गौरवर्णी चित्रित किया गया है ताकि अधिक करुणा जाग्रत करके अधिक धन बटोरा जा सके। उन चित्रों का क्या अर्थ है जिनमें एक पुरुष को अपने हाथों अपनी पत्नी को जीवित जलाते दिखाया गया है ताकि उसकी पत्नी प्रेतात्मा बनकर अपने पति के शत्रु को त्रस्त करे। उन चित्रों का क्या उद्देश्य है जिनमें विशाल रथों के नीचे मनुष्य को कुचलते हुए दिखाया गया है। कुछ दिनों पूर्व इस देश में बच्चों के लिए एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी जिसमें एक प्रचारक अपनी कलकत्ता-यात्रा का वर्णन करता है। वह कहता हैकि उसने कलकत्ता की सड़कों पर अन्धविश्वासियों को एक रथ के नीचे प्राण त्याग करते हुए देखा। ऐसे ही एक सज्जन को मैंने मेम्फिस में यह प्रचार करते हुए सुना कि भारत के प्रत्येक ग्राम में नन्हें-नन्हें शिशुओं की हड्डियों से भरा एक तालाब होता है।

आखिर, हिन्दुओं ने ईसा के इन चेलों का क्या बिगाड़ा है कि वे प्रत्येक ईसाई बच्चे को हिन्दुओं को "दुष्ट", "पतित" एवं "पृथ्वी के सबसे भयंकर राक्षस" कहना सिखाते हैं। यहां विद्यालयों में रविवारीय शिक्षा का यह अनिवार्य अंग बन गया है

---

*'मद्रास अभिनन्दन के उत्तर' में से उद्धत

कि उसमें बच्चों को प्रत्येक गैर-ईसाई से, विशेषकर हिन्दुओं से, घृणा सिखायी जाती है ताकि वे अपने बाल्यकाल से ही इन इसाई प्रचारकों को चन्दा देना सीख लें। यदि सत्य के लिए नहीं तो कम से कम अपने बच्चों की नैतिकता के हित से ही ईसाई प्रचारकों को ऐसी बातें बन्द कर देना चाहिए। इसमें क्या आश्चर्य है, यदि ऐसे बच्चे बड़े होकर निर्दयी और नृशस स्त्री-पुरुष निकलें ?

जो ईसाई प्रचारक अनन्त नरक के अत्याचारों का, वहाँ घधकने वाली ज्वाला का, भयावह चित्रण कर सकता है उसी को अन्धविश्वासियों के द्वारा ऊँचा स्थान दिया जाता है। मेरे एक मित्र की परिचारिका को पुनरुत्थानवादी सभाओं में हिस्सा लेने के परिणामस्वरूप पागलखाने भेजना पड़ा था। नरकाग्नि की ज्वालाओं के भयावह चित्रण को वह सहन नहीं कर पाई। फिर मद्रास में प्रकाशित होने वाली हिन्दू धर्म विरोधी पुस्तकों की ओर भी देखो। यदि कोई हिन्दू ईसाई-धर्म के विरुद्ध ऐसी एक भी पंक्ति लिख दे तो ये ईसाई प्रचारक उसके विरुद्ध हिंसा और बदले का तूफान खड़ा कर देंगे।

मेरे देशवासियों ! मुझे इस देश में वापस लौटे एक वर्ष से अधिक हो गया। मैंने समाज का लगभग प्रत्येक कोना छान डाला है और तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर मैं तुम्हे बताता हूं कि न तो हम राक्षस है, जैसा ईसाई प्रचारक हमारे बारे में संसार को बताते हैं और न वे देवदूत हैं जैसा वे अपने बारे में दावा करते हैं। ईसाई प्रचारक हिन्दुओं की अनैतिकता, शिशु-हत्या एवं विवाह-प्रथा की बुराइयों के बारे में जितना कम बोलेंगे उतना ही उनके लिए हितकर होगा। कुछ ईसाई देशों के ऐसे सच्चे चित्र भी हो सकते हैं, जिनके समक्ष ईसाई प्रचारकों द्वारा चित्रित हिन्दू समाज के काल्पनिक चित्र बिल्कुल फीके पड़ जायेंगे। किन्तु मेरे जीवन का ध्येय वेतन भोगी निन्दक बनना नहीं है। मैं हिन्दू समाज की पूर्णता का दावा करने वालों में से बिल्कुल नहीं हूँ। शायद ही कोई व्यक्ति हिन्दू समाज के दोषों एवं दुर्भाग्यपूर्ण शताब्दियों में उत्पन्न विकृतियों के प्रति मुझ से अधिक जागरूक होगा। ऐ विदेशी मित्रों ! यदि तुम सचमुच, हमारे देश के लिये सच्ची सहानुभूति लेकर सहायता के लिए आओ, न कि केवल विध्वंस के लिए तो ईश्वर तुम्हारी सहायता करे। किन्तु यदि एक पराजित जाति के सिर पर मौके-बेमौके गालियों की निरन्तर बौछार कर तुम केवल अपने राष्ट्र की नैतिक श्रेष्ठता का डंका पीटना चाहते हो तो मैं तुम्हें स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि यदि न्यायपूर्वक कोई तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास हुआ तो हिन्दू जाति संसार की समस्त जातियों से, संसार के समस्त अन्य राष्ट्रों से नैतिकता के क्षेत्र में बाँसों ऊँची सिद्ध होगी।

* * * *

ईश्वर और एषणाओं की पूजा साथ-साथ सम्भव नहीं*

एक बात मैं 'तुम्हें' बताऊँगा। इसे निन्दा मत समझना। तुम लोग को प्रशिक्षित करते हो, खाना-कपड़ा और वेतन देते हो सो काहे के लिए ? क्या इसलिए कि मेरे देश में आकर मेरे पूर्वजों, मेरे धर्म और मेरी सब चीजों को गालियाँ दें और निन्दा करें ? वे मन्दिर के निकट जायें और कहें "ओ मूर्तिपूजकों ! तुम नरक में जाओगे !" किन्तु वे भारत के मुसलमानों से ऐसा कहने का साहस नहीं कर पाते, क्योंकि तब तलवारें निकल आयेंगी। किन्तु हिन्दू बहुत सौम्य है, इसीलिए वह मुस्करा देता है और यह कहकर टाल देता है कि "मूर्खों को बकने दो।" यही है उसका दृष्टिकोण !

तुम स्वयं तो गालियाँ देने और आलोचना करने के लिए लोगों को शिक्षित करते हो, किन्तु यदि मैं बहुत अच्छा उद्देश्य लेकर तुम्हारी तनिक भी आलोचना कर दूँ तो तुम उछल पड़ते हो और चिल्लाने लगते हो—"हमें मत छेड़ो, हम अमेरिकन हैं। हम दुनियाँ के सब लोगों की आलोचना करें, निन्दा करें व उन्हें गालियाँ दें; चाहे जो कहें पर हमें मत छेड़ो क्योंकि हम छुई-मुई के पेड़ हैं।"

तुम्हारे मन में जो आये तुम कर सकते हो किन्तु साथ ही मैं तुम्हें बता देना चाहता हूँ कि हम जैसे भी जी रहे हैं, उससे पूर्णतया सन्तुष्ट हैं और एक माने में हम बहुत अच्छे हैं क्योंकि हम अपने बच्चों को कभी ऐसे भयानक असत्य निगलना नहीं सिखाते। ...

> और जब कभी तुम्हारे पादरी हमारी आलोचना करें वे इस बात को कभी न भूलें कि यदि सम्पूर्ण भारत खड़ा हो जाये और हिन्दु-महोदधि की तलहटी की समस्त कीचड़ को उठाकर पाश्चात्य देशों के मुँह पर फेंक दे तो वह उस दुर्व्यवहार का लक्षांश भी न होगा जो तुम हमारे प्रति कर रहे हो।

और यह सब क्यों ? क्या हमने कभी एक भी धर्म-प्रचारक को दुनियाँ में किसी का धर्म-परिवर्तन करने के लिए भेजा ? हमारा तुमसे कहना है—"तुम्हारे धर्म का स्वागत। किन्तु हमारा धर्म हमारे पास रहने दो।"

तुम अपने धर्म को आक्रामक धर्म कहते हो, तुम आक्रामक हो, किन्तु फिर भी तुम कितने लोगों को अपने धर्म में ला पाये ? विश्व की जनसंख्या का प्रत्येक छठा व्यक्ति चीनी है और वह बौद्ध है। इसके अतिरिक्त जापान, तिब्बत, रूस, साइबेरिया, बर्मा, स्याम भी तो बौद्ध हैं। और शायद तुम यह बात हजम न कर पाओ किन्तु तुम्हारी यह ईसाई नैतिकता, यह कैथोलिक गिरजाघर भी कहां से पैदा हुआ है ?

---

*डेट्राय में दिये गये एक भाषण से

और यह सब कैसे हुआ, कैसे किया गया ? रक्त की एक बूंद बहाये बिना ! ओ अहंकारियों ! बताओ तुम्हारी ईसाइयत ने कहाँ कृपाण के बिना सफलता पाई ? मुझे सम्पूर्ण विश्व में ऐसा केवल एक भी उदाहरण तो बता दो, मैं दो नहीं चाहता। मैं जानता हूँ कि तुम्हारे पूर्वजों का धर्म-परिवर्तन किस प्रकार हुआ था। मृत्यु या धर्म-परिवर्तन—उनके सामने केवल दो ही मार्ग थे; इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। अपनी समस्त दाम्भिक गर्जनाओं के बावजूद तुम इस्लाम से किस अर्थ में श्रेष्ठ हो ? अरबों ने गर्जना की थी "हमीं श्रेष्ठ हैं केवल हम ही !" —क्यों ?—"क्योंकि हम दूसरों की हत्या कर सकते हैं।" किन्तु वह अरब अब कहां है ? रोमन लोग भी यही कहा करते थे पर अब वे कहां हैं ? इसलिये ठीक ही कहा गया है कि, "धन्य हैं शान्ति के पुजारी, वे ही इस पृथ्वी का उपभोग करेंगे।" ऐसी बातें टिका नहीं करतीं, उनका महल बालू के ढेर पर बना होता है, जिसका ढ़हना अवश्यम्भावी है।

प्रत्येक वस्तु जिसकी नींव स्वार्थ है, प्रतिस्पर्धा ही जिसकी कर्म-प्रेरणा है और विषय-सुख जिसका लक्ष्य है, देर या सवेर अवश्य मरेगी। ऐसी वस्तुओं को मरना ही चाहिये। बन्धुओं ! मैं तुम्हें बताता हूं कि यदि तुम जीवित रहना चाहते हो, यदि तुम सचमुच चाहते हो कि तुम्हारा राष्ट्र जीवित रहे तो तुम ईसा की ओर वापस लौटो ! वस्तुत: तुम सच्चे ईसाई नहीं हो। नहीं, एक राष्ट्र के नाते भी नहीं हो। ईसा की ओर वापस लौटो; उसकी ओर वापस लौटो जिसके पास, सिर टिकाने के लिए भी जगह नहीं थी। "चिड़ियों के पास घोंसले हैं, पशुओं के पास माँदें हैं किन्तु मनुष्य-पुत्र के पास सिर टिकाने के लिए भी जगह नहीं है।" और तुम विलासिता का आकर्षण दिखाकर धर्म का प्रचार करते हो ! भाग्य की कैसी विडम्बना है ! इसे बदलो; यदि तुम जीवित रहना चाहते हो तो इसे बदल डालो। जो कुछ मैंने इस देश में सुना है वह सब ढोंग है, यदि यह राष्ट्र जीवित रहना चाहता है तो इसे ईसा की ओर वापस लौटने दो। तुम ईश्वर और एषणाएं, दोनों की एक साथ पूजा नहीं कर सकते। यह सब भोग-ऐश्वर्य, ईसा के नाम पर ? ईसा होते तो इस सब नास्तिकता को ठुकरा देते। शैतानियत के साथ आनेवाला समस्त भोग-ऐश्वर्य नश्वर है, क्षणभंगुर है। अमरत्व केवल उस परमपिता में ही है। यदि तुम इन दोनों चीजों का—इस आश्चर्यजनक समृद्धि का और ईसा के आदर्शों का समन्वय कर सको तो बहुत अच्छी बात है किन्तु यदि नहीं कर सकते तो अच्छा होगा कि तुम ईसा की ओर लौट चलो और इसे त्याग दो। ईसा के साथ चीथड़ों में रहने की तैयारी, उसके बिना महलों में रहने से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

* * *

'मेरा पैगम्बर ही सच्चा पैगम्बर है'*

जब हरेक मनुष्य खड़ा होकर कहे कि "मेरा पैगम्बर ही सच्चा पैगम्बर है" तब वह सत्य बात नहीं बोलता। उसे धर्म का 'क' 'ख' 'ग' भी नहीं आता। धर्म न तो तत्व चर्चा, न सैद्धान्तिक मतवाद और न उसके लिये बौद्धिक स्वीकृति का ही नाम है। वह है अन्तःकरण में साक्षात्कार, ईश्वर से तद्रूपता। वह एक भावना है, एक अनुभूति है कि मैं विश्वात्मा का एक अंश मात्र हूं और उसकी समस्त श्रेष्ठ अभिव्यक्तियों में से एक हूं। यदि तुम सचमुच परमपिता के घर में प्रवेश कर चुके हो तो तुमने उसके बच्चों को देखकर भी कैसे नहीं पहचाना? और यदि तुम उन्हें नहीं पहचान सकते तो इसका अर्थ है कि तुमने परमपिता के घर में प्रवेश किया ही नहीं। माता अपने बच्चे को किसी भी वेश में पहचान लेती है, और लाख छद्मवेश में छिपने पर भी उसे जान ही जाती है।

अतः प्रत्येक युग और प्रत्येक देश के महान् अध्यात्मिक स्त्री-पुरुषों को पहचानो और देखो कि उनमें एक दूसरे से बहुत भिन्नता नहीं है। जहां कहीं सच्चा धर्म है, यह दिव्य स्पर्श हो चुका है, आत्मा का परमात्मा से मिलन हुआ है, वहीं हृदय विशाल हुआ है और उसे सब ओर प्रकाश दीख पड़ा है।

मुसलमान लोग इस दृष्टि से सबसे अधिक संकुचित और सम्प्रदायवादी हैं। उनका घोष-वाक्य है—"अल्लाह केवल एक है और मुहम्मद उसका पैगम्बर है।" उसके अतिरिक्त जो कुछ है वह न केवल बुरा है, अपितु नष्ट हो जाना चाहिये। इस घोष-वाक्य पर आस्था न रखने वालों को तुरन्त मार डालना चाहिये। जो कुछ उनकी उपासना-पद्धति से भिन्न है उसे तुरन्त ध्वस्त कर देना चाहिये। जो पुस्तक उनसे भिन्न उपदेश देती है उसे जला डालना चाहिये। पांच सौ वर्षों तक प्रशान्त महासागर से अटलांटिक महासागर तक रक्त की धारा बहायी गयी। यही है इस्लामवाद।

आत्मकेन्द्रित जाति†

मनुष्य जितना स्वार्थी होता है, उतना ही अनैतिक होता है। यही बात जाति के साथ भी है। जो जाति स्व-केन्द्रित हो गयी वह समस्त संसार में सर्वाधिक दुष्ट एवं अत्याचारी सिद्ध हुई है। संसार में कोई दूसरा धर्म नहीं है जो अपने-पराये की इस भावना का इतना अधिक शिकार रहा हो जितना कि अरब के पैगम्बर द्वारा स्थापित धर्म। और कोई दूसरा धर्म न होगा जिसने अन्य धर्मावलम्बियों पर इतने अधिक

---

* पसडेना (कैलिफोर्निया) में दिये गये एक भाषण से।

† लन्दन में दिये गये एक भाषण से।

अत्याचार किये हों और रक्तपात किया हो। कुरान में यह आदेश दिया गया है कि जो इन उपदेशों को नहीं मानते उनका कत्ल कर देना चाहिये, उनकी हत्या करना उन पर दया करना है। और सुन्दर हूरों तथा सब प्रकार के ऐशो-आराम से परिपूर्ण जन्नत (स्वर्ग) को पाने का निश्चित मार्ग एक ही है और वह है इन काफिरों को मार डालना। ऐसे विश्वासों के फलस्वरूप जो भीषण रक्तपात हुआ है उसकी कल्पना तो करो।

भाग ४

मनुष्य निर्माण

अथवा

कार्यकर्त्ताओं

का

गठन

मनुष्य निर्माण

अथवा

कार्यकर्त्ताओं का गठन

हमें चाहियें प्रज्ञावान, वीर और तेजस्वी युवक, जो मृत्यु से आलिंगन करने का—समुद्र को लाँघ जाने का साहस रखते हों······।

हमें ऐसे सैकड़ों कार्यकर्त्ता चाहियें—पुरुष और स्त्री दोनों। केवल इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिये अपनी पूरी शक्ति लगाओ। अपने चतुर्दिक लोगों का हृदय-परिवर्तन करो एवं उन्हें हमारे चरित्र-निर्माण के महातन्त्र में लगाओ। स्थान-स्थान पर निर्माण-केन्द्र स्थापित करो। अधिकाधिक लोगों को दीक्षित करो।

सिंह के पौरुष से युक्त, परमात्मा के प्रति अटूट निष्ठा से सम्पन्न और पावित्र्य की भावना से उद्दीप्त सहस्रों नर-नारी, दरिद्रों एवं उपेक्षितों के प्रति हार्दिक सहानुभूति लेकर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक भ्रमण करते हुए मुक्ति का, सामाजिक पुनरुत्थान का, सहयोग और समता का सन्देश देंगे।

संगठन

एक बार उन्होंने (स्वामी जी ने) मेरी दादी जी से कहा कि "मेरे जीवन का सब से बड़ा आकर्षण अमेरिका में है।" मेरी दादी ने थोड़ा चुटकी काटने के लिये उनसे पूछा—"ऐसी वह कौन है, स्वामी ?" वह ठहाका मारकर हंस पड़े और 'बोले," ओह वह कोई स्त्री नहीं है, बल्कि संगठन है।" उन्होंने समझाया कि किस प्रकार रामकृष्ण परमहंस के शिष्य अकेले निकल पड़ते हैं और जब वे किसी ग्राम के निकट पहुंचते हैं तो चुपचाप एक वृक्ष के नीचे बैठ जाते हैं, उनकी प्रतीक्षा में, जो अपनी आपत्तियों में उनकी सलाह माँगने आते हैं। "किन्तु मैंने अमेरिका में देखा कि संगठित प्रयास के द्वारा कितना अधिक कार्य किया जा सकता है।" किन्तु तब तक वे यह निश्चित नहीं कर पाये थे कि संगठन का कौन सा प्रकार भारतीय स्वभाव के लिये पूर्णतया उपयुक्त होगा। और वे इस बारे में बहुत चिन्तन-मनन और अध्ययन कर रहे थे कि पाश्चात्य जगत में जो कुछ वे अच्छा समझते हैं उसे अपने देशवासियों के अधिकतम हित की दृष्टि से कैसे उपयुक्त बनायें।

—कु० कॉर्नर

* * *

लोकतांत्रिक ढाँचे की पूर्व पीठिका*

अनेक देशों में भ्रमण करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि संगठन के बिना संसार में कोई भी महान् एवं स्थायी कार्य नहीं किया जा सकता। किन्तु भारत जैसे देश में, विकास की वर्तमान अवस्था में, मुझे यह सद्-परामर्श नहीं लगता कि जनतान्त्रिक आधार पर कोई नया संगठन प्रारम्भ किया जाय, जिसमें प्रत्येक सदस्य की समान आवाज हो और जिसमें बहुमत के आधार पर निर्णय लिये जायें। पश्चिमी

---

* रामकृष्ण मिशन की स्थापना के अवसर पर रामकृष्ण परमहंस के शिष्यों के समक्ष भाषण करते हुए।

जाग्रत !!

देशों की स्थिति भिन्न है'''हम भी शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ जब यह सीख जायेंगे कि अपने व्यक्तिगत स्वार्थों एवं हितों से ऊपर सम्पूर्ण समाज अथवा राष्ट्र के हित के लिये त्याग किया जाय, तब हमारे लिये भी जनतांत्रिक प्रणाली से कार्य करना सम्भव हो सकेगा। इस बात को ध्यान में रखकर हमें फिलहाल अपने संगठन के लिए एक सर्वाधिकारी मार्गदर्शक अपनाना होगा, जिसकी आज्ञाओं का सब लोग पालन करें। उपयुक्त समय आने पर उसका कार्य संचालन सभी सदस्यों के मत एवं सहमति से हो सकेगा।

* * *

हिन्दुओं का संगठन

ऐसा संगठन जो हिन्दुओं को पारस्परिक सहयोग एवं सद्भाव सिखा सके, परमावश्यक है। मेरे कार्य की सराहना करने के लिये कलकत्ते में जो सभा हुई उसमें पांच हजार लोग आये। ऐसे ही अन्य स्थानों पर भी सैकड़ों की संख्या में लोग आये। बहुत अच्छी बात है! किन्तु यदि तुम उनमें से प्रत्येक से एक आना देने को कहो तो क्या वे ऐसा करेंगे? हमारा सम्पूर्ण राष्ट्रीय चारित्र्य बच्चों के समान परावलम्बी बन गया है। सब लोग खाने का स्वाद तो लेना चाहते हैं मगर वह उनके मुँह के पास पहुंच जाय तभी। कुछ तो यहां तक चाहते हैं कि वह उनके गले के नीचे उतार दिया जाय। तुम्हें जीने का कोई अधिकार नहीं, यदि तुम अपनी सहायता स्वयं नहीं कर सकते हो।

भारत में तीन लोग मिल-जुल कर पांच मिनट तक कार्य नहीं कर करते। प्रत्येक सत्ता पाने के लिये संघर्ष करता है और फलस्वरूप आगे जाकर सम्पूर्ण संगठन संकट में पड़ जाता है। हे ईश्वर! हे प्रभो! हम ईर्ष्या न करना कब सीख पायेंगे? ऐसे राष्ट्र में ऐसे व्यक्तियों का, जो मतभिन्नताओं के रहते हुए भी अमर स्नेह के सूत्र में ग्रन्थित हों, संगठव तैयार करना क्या आश्चर्य की बात नहीं? यह संगठन बढ़ता जायेगा। अद्भुत विशाल हृदयता से संयुक्त शाश्वत शक्ति एवं प्रगति का यह भाव सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो जाना चाहिये। इस गुलाम राष्ट्र को उत्तराधिकारी के रूप में उपलब्ध भयंकर अज्ञान, जातिभेद, पोंगापन्थी और ईर्ष्या के बावजूद यह भाव सम्पूर्ण राष्ट्र में विद्युत्चैतन्य भी देगा उसे समाज के रोम-रोम में भर देना चाहिये।

* * *

कार्य की तीन अवस्थाएं

प्रत्येक कार्य को तीन अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है—उपहास, विरोध और अन्त में स्वीकृति।

ऐसे प्रत्येक मनुष्य के बारे में जो अपने समय से बहुत आगे की सोचता है, भ्रान्ति उत्पन्न होना निश्चित है । अतः विरोध और अत्याचारों का स्वागत । केवल मुझे दृढ़ और शुद्ध होना चाहिये तथा ईश्वर में अगाध श्रद्धा रखनी चाहिये । फिर, ये सब अपने आप लुप्त हो जायेंगे ।

प्रसिद्धि, लोलुपता एवं निर्माण कार्य साथ नहीं चलते

कभी किसी ने समाज को प्रसन्न रखने और साथ ही महान् कार्य करने में सफलता नहीं पाई । किसी को केवल अपनी अन्तरात्मा के आदेशों का पालन करते रहना चाहिये और यदि वह आदेश सही और शुभ है तो समाज को उसका अनुसरण करना ही होगा, भले ही वह उसकी मृत्यु के शताब्दियों बाद करे । हम मन, बुद्धि और शरीर से अपने कार्य में जुट जायें । जब तक हम केवल एक और केवल एक ही विचार के लिए अन्य सब कुछ त्यागने के लिये तैयार नहीं होंगे, तब तक हमें कभी भी प्रकाश का दर्शन नहीं होगा, कभी भी नहीं ।

जो लोग मानवता की सच्ची सेवा करना चाहते हैं उन्हें अपने सुख-दुःख, कीर्ति-प्रतिष्ठा तथा अन्य समस्त स्वार्थों को गठरी में बांधकर समुद्र में फेंक देना चाहिये और तब भगवान् के चरणों में आना चाहिये । यही समस्त महापुरुषों ने कहा और किया ।

* * *

पूर्ण आज्ञाकारिता

जो आज्ञापालन करना जानता है वही आज्ञा देना भी जान सकता है । पहले आज्ञापालन सीखो । इन समस्त पाश्चात्य देशों में स्वतन्त्रता की तीव्र भावना के साथ ही आज्ञापालन की भावना भी उतनी ही तीव्र है । हम सभी अपने-अपने को महत्वपूर्ण समझते हैं, जिसके कारण कोई कार्य नहीं हो पाता । महान् उद्यम, असीम उत्साह, प्रचण्ड शक्ति और इन सबसे ऊपर पूर्ण आज्ञाकारिता केवल इन्हीं गुणों के सहारे व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय पुनरुत्थान सम्भव है । इन गुणों का हममें सर्वथा अभाव है ।

यहाँ प्रत्येक नेता बनना चाहता है, आज्ञापालन करना कोई नहीं जानता । महान् कार्यों को करने में नेता की आज्ञाओं को आंख मूंद कर पालन करना होता है । यदि मेरे गुरुभाई अभी मुझसे कहें कि मुझे अपने जीवन का शेष भाग मठ की नालियां साफ करने में बिताना है तो निश्चय जानो कि मैं इस आज्ञा का बिना किसी विरोध के पालन करूँगा । केवल वही महान् सेनापति हो सकता है जो सर्वजन-हिताय प्रत्येक आज्ञा को बिना ननुनच किये, पालन करना जानता है ।

आज्ञापालन के गुण का विकास तो करो किन्तु अपनी आत्मश्रद्धा को मत खोओ । अपने वरिष्ठों की आज्ञापालन के बिना एकसूत्रता सम्भव नहीं । व्यक्तिगत शक्तियों के ऐसे केन्द्रीकरण के बिना कोई भी महान् कार्य नहीं किया जा सकता ।

सहयोगियों के प्रति व्यवहार

तुम्हें किसी की योजना का निरादर कर उसे निरुत्साहित नहीं करना चाहिये। आलोचना को बिलकुल छोड़ दो। सबकी तब तक सहायता करते रहो जब तक तुम्हें दिखाई दे कि वे ठीक कर रहे हैं और जब कभी वे गलत पग उठाते दिखाई दें तो उनकी भूलों को सौम्यतापूर्वक उनकी दृष्टि में लाओ। एक दूसरे की आलोचना ही समस्त उपद्रवों की जड़ है। वही संगठनों के विघटन का मुख्य कारण बनती है।

तुम्हारे समस्त कार्यों की सफलता पूर्णतया तुम्हारे पारस्परिक स्नेह पर निर्भर है। जब तक ईर्ष्या, द्वेष एवं अहंवादिता कायम है, तब तक कोई भला नहीं होने वाला है।

अपने बन्धुओं के विचारों का आदर करो और सदैव सद्भाव स्थापित करने का यत्न करो। यही सफलता का रहस्य है।

आदर्श कार्य-विधि

भारत में समस्त संयुक्त प्रयास एक ही बुराई के बोझ से दबकर डूब जाते हैं। हमने अभी तक स्वयं में कार्य-विधि के सिद्धान्तों के कठोर पालन की वृत्ति विकसित नहीं की है। कार्य को उसके आदर्श रूप में ही करना चाहिये। फिर उसमें किसी 'मित्रता' या प्रचलित मुहावरे के अनुसार 'आँख की लज्जा' को स्थान नहीं मिलना चाहिये। अपने अधिकार में जो भी कोष हो उसके पाई-पाई का लेखा-जोखा रखना चाहिए और भूलकर भी कभी एक मद की धनराशि का किसी दूसरी मद के लिये, चाहे जो हो यहां तक कि अगले ही क्षण भूखों मरने की नौबत पहुंच चुकी हो, तब भी उपयोग मत करो। यही है कार्य-विधि की शुद्धि !

संगठन के स्थायित्व का रहस्य

ऐसा तन्त्र निर्माण करो जो स्वचालित हो। फिर चिन्ता नहीं कौन जीता है, कौन मरता है। हम भारतीयों का एक बड़ा भारी दोष यह है कि हम स्थायी संगठन नहीं खड़ा कर पाते। और उसका कारण है कि हम कभी दूसरों को अपने अधिकारों में सहभागी बनाना नहीं चाहते और कभी यह चिन्ता ही नहीं करते कि हमारे चले जाने के बाद क्या होगा।

—:o:—

नेतृत्व

चरित्र की शुद्धता

यदि नेता चरित्रवान् नहीं है तो अनुयायियों में उसके प्रति श्रद्धा टिकना सम्भव नहीं। पूर्णतया शुद्ध चरित्र के आधार पर ही अटूट श्रद्धा और विश्वास टिक सकते हैं।

लोक-संग्रह के जन्मजात गुण

नेता केवल एक जन्म में नहीं बन जाता। वह जन्मजात ही होता है। संगठन की स्थापना करना अथवा योजनायें बनाना इतना कठिन कार्य नहीं है। नेता की वास्तविक कसौटी यह है कि वह बहुत भिन्न रुचि और प्रवृत्ति के लोगों को भी उनकी समान वेदनाओं-भावनाओं के आधार पर एकत्र रख सकता है या नहीं। और यह कार्य बड़े सहज रूप में ही होता है, बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करके नहीं।

नेतृत्व के अनिवार्य गुण-सेवा और स्नेह

नेता के दायित्व को निभाना बहुत ही कठिन कार्य है। उसके लिये व्यक्ति को 'दासस्य दास:'—दासों का दास बनना पड़ता है और सहस्रों हृदयों को अपने अन्दर समाना पड़ता है। सबके प्रति सेवाभाव रखनेवाला ही उनका सच्चा स्वामी बन सकता है। ईर्ष्या और स्वार्थ का लवमात्र शेष न रहने पर ही तुम नेता बन सकते हो। जन्मजात और नि:स्वार्थ व्यक्ति ही नेता हो सकता है।

आत्मत्याग, न कि आत्महठ

वह सैनिक भावना है ही कहाँ, जो आरम्भ से ही मनुष्य को सेवा और आज्ञापालन तथा आत्म-संयम का अभ्यास कराना सिखाती है? सैनिक भावना है आत्मत्याग में, न कि आत्महठ में। दूसरों के हृदयों एवं जीवनों पर शासन करने के पूर्व व्यक्ति को दूसरे की आज्ञा पर आगे बढ़ कर अपने प्राण देने के लिए भी तत्पर रहना चाहिये। सर्वप्रथम बलिदान करने की सिद्धता रखनी चाहिये।

अग्रिम मोर्चे पर नेता को रहना होगा

क्या भारतीय सैनिक युद्धस्थल में कायरता दिखाता है ? कभी नहीं; किन्तु उन्हें योग्य नेता मिलने चाहियें। मेरे एक अंग्रेज मित्र जनरल स्ट्रांग १८५७ की सैनिक क्रांति के समय भारत में थे। वे उस समय की कई घटनायें सुनाया करते थे। एक दिन वार्ता के दौरान मैंने उनसे पूछा कि जो सैनिक बन्दूकों, शस्त्रास्त्रों एवं खाद्यसामग्री आदि से पूरी तरह सम्पन्न थे, जो अनुभवी धुरन्धर थे, वे इतनी बुरी तरह क्यों हारे ? उन्होंने उत्तर दिया कि उनके नेता स्वयं आगे न बढ़कर पीछे किसी सुरक्षित स्थान पर से ही चिल्लाते थे, "लड़े जाओ बहादुरो' आदि-आदि। किन्तु जब तक आज्ञा देनेवाला सेनाधिकारी आगे नहीं बढ़ता और मृत्यु का सामना नहीं करता, तब तक साधारण सैनिक कभी पूरे हृदय से नहीं लड़ सकता। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यही बात है। "नायक को अपने शीश का बलिदान देना ही होगा"—यदि तुम किसी लक्ष्य के लिये अपने प्राणों का उत्सर्ग कर सकते हो, केवल तभी तुम नेता बनने के अधिकारी हो। किन्तु हम सब पर्याप्त त्याग किये बिना ही नेता बनने के चक्कर में रहते हैं, जिसका परिणाम है—शून्य ! कोई हमारी बात नहीं सुनता।

नेता निष्पक्ष एवं व्यक्ति निरपेक्ष हो

(१) पक्षपात सब बुराइयों की जड़ है। कहने का अभिप्राय है कि यदि तुम एक के प्रति दूसरे की अपेक्षा अधिक स्नेह प्रदर्शित करते हो, तो विश्वास रखो, तुम भावी संकटों के बीज बो रहे हो।

वह कभी नेता नहीं बन सकता जिसके स्नेह में थोड़ा भी ऊंच-नीच का भेद है। जिसका स्नेह अनन्त है, जिसमें ऊंच-नीच का भेद नहीं, समस्त संसार उसके चरणों पर लोटता है।

मैं देखता हूँ कि लोग मुझे अपना लगभग संपूर्ण स्नेह अर्पित कर देते हैं। किन्तु मैं बदले में अपना सम्पूर्ण स्नेह किसी एक को नहीं दे सकता, क्योंकि उसी दिन कार्य चौपट हो जायेगा। फिर भी कुछ लोग, जो व्यक्ति-निरपेक्ष विशाल दृष्टिकोण से सम्पन्न नहीं है, बदले में सम्पूर्ण स्नेह की अपेक्षा करेंगे। कार्य के हित में यह नितान्त आवश्यक है कि मैं पूर्णतया व्यक्ति निरपेक्ष रहते हुए अधिक से अधिक लोगों का उत्साहयुक्त स्नेह अर्जित कर सकूं। अन्यथा ईर्ष्या और झगड़े सब कुछ विघटित कर डालेंगे। नेता को व्यक्ति-निरपेक्ष ही रहना चाहिये।

सहानुभूति और सहिष्णुता

यदि कोई तुम्हारे पास आकर अपने किसी भाई की बुराई करने लगे, तो उसकी

बात बिलकुल मत सुनो। निन्दा सुनना भी पाप है। इसी में भावी संकटों के बीज निहित हैं।

प्रत्येक की कमियों को सहन करो। लाखों अपराधों को क्षमा करो। यदि तुम सबको निःस्वार्थ भाव से प्रेम करोगे तो वे सब भी शनैः-शनैः एक दूसरे को प्रेम करने लगेंगे। जब वे यह भली प्रकार समझ जायेंगे कि एक का हित दूसरों के हित पर निर्भर करता है, तभी उनमें से प्रत्येक ईर्ष्याभाव को त्याग देगा। मिल-जुल कर कोई कार्य करना मानों हमारे राष्ट्रीय चरित्र का अंग ही नहीं रह गया है। अतः तुम्हें इस भावना को बहुत चिन्तापूर्वक पैदा करने का यत्न करना चाहिये और धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिये।

शिशुवत् नेतृत्व ही सर्वोत्तम

कुछ लोग मार्गदर्शन मिलने पर बहुत अच्छा कार्य कर सकते हैं। प्रत्येक नेता बनने के लिये पैदा नहीं हुआ है। सर्वोत्तम नेता वही है जो "एक शिशु के समान नेतृत्व करता है।" शिशु ऊपर से देखने पर तो सभी का आश्रित है, किन्तु वस्तुतः वही सम्पूर्ण परिवार का सम्राट् होता है। कम से कम, मेरे विचार में तो यही मन्त्र है।

नेतृत्व करने का थोड़ा सा भी दिखावा अन्यों में ईर्ष्या को भड़का कर सब कुछ चौपट कर डालता है।

—:o:—

सच्चा मार्गदर्शक

शब्दों के सामर्थ्य का रहस्य

जो अपने को ईश्वरार्पण कर देते हैं, वे संसार के लिए इन तथाकथित कार्यकर्ताओं की अपेक्षा बहुत कुछ कर जाते हैं। यदि किसी एक व्यक्ति ने अपनी पूर्ण आत्मशुद्धि कर ली है, तो वह इन उपदेशकों के पूरे दल की अपेक्षा कहीं अधिक कार्य पूरा कर लेता है। **आत्मशुद्धि और मौन में से शब्दों का अपूर्व सामर्थ्य पैदा होता है।**

गुरु का व्यक्तित्व

एक बार इंग्लैंड में एक मित्र ने मुझसे प्रश्न पूछा था, "हम गुरु के व्यक्तित्व की ओर इतना क्यों निहारे? हमें केवल उनके उपदेशों पर विचार करना चाहिए और उन्हें अपनाना चाहिये।" किन्तु यह ठीक नहीं है। यदि कोई व्यक्ति मुझे रसायनशास्त्र अथवा गति विज्ञान या कोई अन्य भौतिक विज्ञान पढ़ाना चाहता है तो उसका चरित्र चाहे जैसा हो, वह इन विषयों को पढ़ाने में सफल हो सकता है। क्योंकि भौतिकवादी विद्याओं का ज्ञान केवल बौद्धिक होता है और बौद्धिक शक्ति पर निर्भर करता है। कोई भी मनुष्य आत्मा का रंचमात्र विकास किये बिना ही ऐसे क्षेत्र में प्रचण्ड बौद्धिक सामर्थ्य से सम्पन्न हो सकता है। किन्तु अध्यात्मिक विद्याओं में प्रारम्भ से अन्त तक यह असम्भव है कि अशुद्ध आत्मा से तनिक भी अध्यात्मिक प्रकाश मिल सके। ऐसी आत्मा क्या सिखा सकती है? उसे कुछ ज्ञान नहीं। शुद्धता में ही आध्यात्मिक सत्य निहित है।

अध्यात्मिक गुरु चुनते समय सर्वप्रथम हमें देखना चाहिये कि इसका व्यक्तित्व क्या है। केवल तभी उसके शब्दों का कुछ मूल्य हो सकता है, क्योंकि उसका व्यक्तित्व संचारण यन्त्र जैसा कार्य करता है। वह संचार ही क्या करेगा यदि उसमें वह अध्यात्मिक शक्ति है ही नहीं? उदाहरणस्वरूप, यदि बिजली का चूल्हा गर्म है तो वह उष्णता की तरंगें प्रवाहित कर सकता है। किन्तु यदि वह गर्म नहीं है तो उसके द्वारा ऐसा होना असम्भव है। इसी प्रकार अध्यात्मिक गुरु से भी मानसिक तरंगें निकलती हैं जो शिष्य के चित्त तक पहुंचती हैं। यह समस्या है आत्मिक शक्ति को प्रदान करने की, न कि केवल हमारी बौद्धिक शक्तियों को उत्तेजित करने की। गुरु

से एक वास्तविक अनुभव में आनेवाली शक्ति प्रवाहित होती है और शिष्य के अंतः-करण में बढ़ने लगती है। अतः यह अनिवार्य आवश्यकता है कि गुरु सच्चा हो। हम बहुत बढ़िया भाषण सुनते हैं, अद्भुत तर्कों से युक्त प्रवचन भी सुनते हैं, किन्तु घर जाकर उन सबको भूल जाते हैं। कभी-कभी हम बहुत सरल भाषा में दो चार शब्द ही सुनते हैं, किंतु वे हमारे अन्तर्मन पर छा जाते हैं, हमारे सम्पूर्ण जीवन को स्थायी रूप से बदल डालते हैं। उस व्यक्ति के शब्द जो अपना व्यक्तित्व-बल उनमें उंढ़ेल दें, प्रभाव डाल सकते हैं, किंतु उसका व्यक्तित्व तेजस्वी होना चाहिये। आदान-प्रदान का नाम ही शिक्षण है। गुरु देता है और शिष्य ग्रहण करता है। किन्तु एक के पास देने के लिये कुछ होना चाहिये और दूसरे का द्वार लेने के लिये खुला रहना चाहिये।

गुरु का कार्य

(१) शिक्षा मनुष्य की आन्तरिक पूर्णता की अभिव्यक्ति मात्र है।

(२) धर्म मनुष्य में विद्यमान देवत्व की अभिव्यक्ति है।

अतः दोनों मामलों में गुरु का एकमेव कर्त्तव्य शिष्य के मार्ग की समस्त बाधाओं को हटाना है। इसीलिये मैं सदैव कहता आया हूं—"हस्तक्षेप मत करो।" शेष सब अपने आप ठीक हो जायेगा। अर्थात् हमारा कार्य मार्ग साफ करना है। शेष सब भगवान् करेगा।

निषेधात्मक विचार मनुष्य को दुर्बल बनाते हैं

"—निषेधात्मक विचार मनुष्य की शक्ति क्षीण करते हैं। क्या आप नहीं देखते कि जो माता-पिता अपने बच्चों को पढ़ना-लिखना सिखाने के मोह में उन्हें हर समय ताड़ना देते रहते हैं कि "तुम मूर्ख हो, तुम कभी कुछ नहीं सीख सकोगे" उनके बच्चे अधिकांश उदाहरणों में सचमुच ऐसे ही निकल जाते हैं। यदि तुम बच्चों से मधुर वचन बोलो और उन्हें उत्साहित करो, तो धीरे-धीरे उनका सुधार होना अवश्यम्भावी है। जो बात इन छोटे बच्चों पर लागू होती है, वही उच्च विचारों के क्षेत्र के नवागन्तुकों पर भी लागू होती है। यदि तुम उन्हें भावात्मक विचार दे सको तो वे लोग सचमुच ही मनुष्य बन जायेंगे और अपने पैरों पर खड़ा होना सीख सकेंगे। भाषा और साहित्य, कला और कविता—प्रत्येक क्षेत्र में उन भूलों की ओर ही इंगित नहीं करना चाहिये जो वे विचार अथवा कृति से कर रहे हों, अपितु उन्हें वह मार्ग दिखाना चाहिये जिस पर चलकर अपने कार्य को अच्छी प्रकार कर सकें। कमियाँ बतलाने से मनुष्य की भावनाओं को आघात लगता है। हमने देखा है कि भगवान रामकृष्ण उन लोगों को भी प्रोत्साहन दिया करते थे जिन्हें हम बिल्कुल निकम्मा समझते थे और इस प्रकार उनके जीवन की दिशा को भी बदल डालते थे। उनके शिक्षण का तरीका अभूतपूर्व था।

*   *   *

सफल जीवन का रहस्य

अथवा

कर्म-कौशल

मस्तिष्क को उच्च आदर्श से भर दो

मांसपेशियों के द्वारा शक्ति का जो प्रगटीकरण होता है उसे ही कार्य कहते हैं। किन्तु जहां विचार नहीं वहां कार्य नहीं। अतः मस्तिष्क को उच्च विचारों से, उच्च आदर्शों से भर दो। उन्हें दिन-रात अपने सामने रखो और तब उसमें से महान् कार्य निष्पन्न होगा।

आकाश को हर कोई देख सकता है, यहां तक कि धरती पर रेंगने वाला क्षुद्र कीड़ा भी उस नीलाकाश को देखता है। किन्तु वह हम सबसे कितनी दूर है। यही बात आदर्श के साथ है। इसमें सन्देश नहीं कि वह बहुत दूर है किन्तु साथ ही हम जानते हैं कि हमारे पास वह होना ही चाहिये। हम उच्चतम आदर्श अपने समक्ष रख सकते हैं। दुर्भाग्यवश इस जीवन में अधिकांश लोग लक्ष्यविहीन हो अंधेरे में भटक रहे हैं। यदि लक्ष्यवान व्यक्ति एक सहस्र भूलें करता है तो मेरा विश्वास है कि लक्ष्य-विहीन व्यक्ति पचास सहस्र भूलें करेगा। अतः कोई न कोई आदर्श सामने होना चाहिये। उस आदर्श के बारे में हम अधिक से अधिक श्रवण करें ताकि वह हमारे अन्तःकरण में, हमारे मस्तिष्क में, हमारी रगों में समा जाय। यहां तक कि रक्त की प्रत्येक बूंद में चैतन्य भर दे। और शरीर के प्रत्येक रोम में समा जाय। हम हर क्षण उसी का चिन्तन करें। "अन्त.करण की परिपूर्णता में से ही वाणी मुखरित होती है और अन्तःकरण की परिपूर्णता के पश्चात् ही हाथ भी कार्य करते हैं।

सीप-समान बनो

मोती की सीप के समान बनो। एक बड़ी सुन्दर भारतीय कथा है कि यदि

स्वाति नक्षत्र में वर्षा का एक बूंद भी उस सीप में पड़ जाता है तो वह मोती बन जाता है। सीप यह बात जानती है, अतः वे स्वाति नक्षत्र के चमकते ही जल की सतह पर आ जाती हैं और उस मूल्यवान् वर्षा की बूंद को पाने के लिये प्रतीक्षा करती रहती है। जैसे ही कोई बूंद उनके मुख से प्रवेश करती है वे सीप तुरन्त अपना मुंह बन्द कर लेती हैं और डुबकी लगाकर समुद्र के तल पर पहुँच जाती हैं। वहाँ वे धैर्य-पूर्वक बूंद को मोती का रूप दे देती हैं।

हम भी वैसे ही बनें। पहले सुनो, तब मनन करो, और अन्त में सब दुविधा को छोड़कर अपने अन्तःकरण को बाह्य प्रभावों की ओर से बन्द कर लो और अपने अन्दर उस सत्य के पोषण में लग जाओ। एक विचार को केवल उसके नयेपन से आकर्षित हो अपना लेना और फिर उससे भी नये विचार के लिए उसका त्याग देने की वृत्ति से ही पूरी शक्तियां बिखर जाने का भय है। एक विचार को लो तो उसे करो, उसे अन्त तक पहुँचाओ और जब तक उसके छोर पर न पहुंचो उसे त्यागो मत। जो अपने लक्ष्य के प्रति पागल हो गया है, उसे ही प्रकाश का दर्शन होता है। जो थोड़ा इधर थोड़ा उधर हाथ मारते हैं, वे कोई लक्ष्य पूर्ण नहीं कर पाते। वे कुछ क्षणों के लिये बड़ा जोश दिखाते हैं, किन्तु वह शीघ्र ठंडा हो जाता है।

अतः एक लक्ष्य अपनाओ। उस लक्ष्य को ही अपना जीवन कार्य समझो। हर क्षण उसी का चिन्तन करो, उसी का स्वप्न देखो। उसी के सहारे जीवित रहो। मस्तिष्क, मांसपेशियां, नसें आदि शरीर के प्रत्येक अंग उसी विचार से ओत-प्रोत हों और तब तक अन्य प्रत्येक विचार को किनारे पड़ा रहने दो। सफलता का यही राजमार्ग है, इसी मार्ग पर चलकर अब तक अध्यात्मिक महापुरुष पैदा हुए हैं। अन्यों को केवल बोलने वाले यन्त्र समझो।

"सफलता के लिये अत्यधिक अध्यवसाय एवं प्रबल इच्छाशक्ति का होना आवश्यक है। अध्यवसायी आत्मा कहती है, "मैं समुद्र को पी जाऊँगी।" मेरी इच्छामात्र से पर्वत चूर चूर हो जायेंगे।" यह कर्मशक्ति, यह इच्छाशक्ति प्राप्त करो, कठोर परिश्रम करो और तुम निश्चित ही लक्ष्य पर पहुँच जाओगे।

× × ×

महावीर को आदर्श मानो

तुम्हें महावीर के चरित्र को आदर्श के रूप में अपने सामने रखना होगा। देखो, किस प्रकार वे रामचन्द्र की आज्ञा पर समुद्र को लांघ गये। उन्होंने अपने जीवन या मृत्यु की तनिक चिन्ता नहीं की। वे अपनी इन्द्रियों के पूर्ण स्वामी थे और अद्भुत प्रज्ञा से सम्पन्न थे। तुम्हें व्यक्तिगत सेवा के इस महान् आदर्श के नमूने पर अपने

जीवन का निर्माण करना होगा। उसके द्वारा अन्य समस्त आदर्श भी जीवन में स्वत: धीरे-धीरे प्रकट होंगे। गुरु की आज्ञा का आंख मूंद कर पालन करो। ब्रह्मचर्य का निष्ठापूर्वक आचरण ही सफलता का मूल-मन्त्र है। हनुमान जहां एक ओर सेवा के आदर्श के प्रतीक हैं, वहीं दूसरी ओर वे समस्त संसार को आतंकित कर देने वाले सिंहवत् साहस के भी प्रतीक हैं। राम के हित के लिये उन्हें अपने प्राणों का बलिदान करने में तनिक भी संकोच नहीं है। राम की सेवा के अतिरिक्त वे प्रत्येक चीज की ओर से विरक्त हैं। यहां तक कि विश्व के महान् देवता ब्रह्मा अथवा विष्णु के स्थान को प्राप्त करने की लालसा भी नहीं है। उनके जीवन का एक ही व्रत है—'राम की प्रत्येक इच्छा को क्रियान्वित करना।' ऐसी ही पूर्ण-समर्पणकारी भक्ति चाहिये।

जिन खोजा, तिन पाइयां

एक सड़क पर घूमते हुए आलसी व्यक्ति ने एक बूढ़े व्यक्ति को अपने मकान के दरवाजे पर बैठे हुए देखा। उसने ठहरकर उस बूढ़े से एक ग्राम का पता-ठिकाना पूछा। उसने पूछा, "अमुक-अमुक ग्राम यहां से कितनी दूर है ?" बूढ़ा मौन रहा। उस आदमी ने कई बार उसी प्रश्न को दोहराया। तब भी कोई जवाब न मिला। इससे झुंझलाकर यात्री चलने के लिये मुड़ पड़ा। तभी बूढ़े ने खड़े होकर कहा "अमुक ग्राम यहां से केवल एक मील दूर है।" "क्या !", यात्री ने कहा "तुमने यही बात जब मैंने पूछा तब क्यों नहीं बतायी ?" बूढ़े ने कहा—"क्योंकि तब तुम जाने के बारे में काफी उदासीन और ढीले दिखाई दे रहे थे और अब जब तुम पक्के इरादे के साथ जाने के लिए तैयार दीखते हो तब तुम उत्तर पाने के अधिकारी हो गये हो।"

क्या तुम इस कहानी को स्मरण रखोगे ? कार्य में जुट जाओ, शेष साधन अपने आप पूरे हो जायेंगे। भगवान ने गीता में कहा है,

अनन्याश्चिन्तयन्तो माम् ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् (गीता ९/२२) "जो अनन्य भाव से मेरी ही उपासना करते हैं उनके योग क्षेम की चिन्ता मैं स्वयं करता हूं।"

......ईसा के शब्दों को स्मरण रखो, "मांगो और वह तुम्हें मिलेगा, खोजो और तुम पा जाओगे। थपथपाओ और द्वार तुम्हारे लिये खुल जायेंगे।" ये शब्द अक्षरशः सत्य हैं, इनमें केवल रूपक या कल्पना नहीं है। ......

क्या कोई ऐसी वस्तु है जिसकी तुमने सच्चे अन्तःकरण से कामना की हो और न मिली हो ? ऐसा कभी नहीं हो सकता। इच्छा ने ही शरीर को पैदा किया। प्रकाश ने ही तुम्हारे मस्तक पर दो छेद पैदा किये जिन्हें तुम आंखें कहते हो। यदि प्रकाश न

होता तो तुम्हारे पास आंखें न होती। शब्द ने कानों को बनाया। विषय पहले आये और उन्हें ग्रहण करने वाली इंद्रियां बाद में।

मांगो और तुम्हें मिलेगा

लेकिन तुम्हें समझना होगा कि इच्छा-इच्छा में भी अन्तर होता है।

एक शिष्य अपने गुरू के पास गया और बोला—"श्रीमन्, मैं ईश्वर को पाना चाहता हूं।" गुर ने उस युवक की ओर देखा, एक शब्द नहीं बोले और केवल मुस्करा दिया। युवक प्रतिदिन आता था और आग्रह करता था कि उसे ईश्वर चाहिये। किन्तु उस वृद्ध को युवक की अपेक्षा अधिक ज्ञान था। एक दिन जब बहुत गर्मी पड़ रही थी, गुरु ने युवक से अपने साथ चलकर नदी में स्नान करने को कहा। युवक ने जैसे ही नदी में डुबकी लगायी, वृद्ध ने पीछे से आकर उसे बलपूर्वक पानी में ही दबा लिया। जब युवक कुछ देर तक मुक्ति के लिये छटपटा चुका तो उन्होंने उसे छोड़ दिया और पूछा कि "जब तुम पानी के अन्दर थे तब तुम्हारी एकमेव इच्छा-क्या थी ?" शिष्य ने उत्तर दिया, "हवा का केवल सांस। तब गुरु ने कहा "क्या तुम्हारी ईश्वर को पाने की इच्छा भी उतनी तीव्र है ? यदि हो तो वह तुम्हें एक क्षण में मिल जायेगा। जब तक तुम्हारी भूख, तुम्हारी इच्छा उतनी ही तीव्र नहीं है तब तक तुम परमात्मा को कदापि नहीं पा सकते चाहे तुम कितना ही बौद्धिक व्यायाम अथवा कर्मकाण्ड करो।

*   *   *   *

बुद्धि की करुणा अपनाओ

क्या तुम्हारे मन में दूसरों के प्रति सहानुभूति है ? यदि है तो तुम एकत्व का साक्षात्कार कर रहे हो। यदि तुम्हारे अन्दर दूसरों के प्रति सहानुभूति नहीं तो तुम चाहे संसार के सबसे बड़े बुद्धिवादी दैत्य हो किन्तु तुम कुछ भी नहीं बन सकोगे। तुम निरे शुष्क बुद्धिवादी हो और वैसे ही सदा बने रहोगे।

क्या तुमने विश्व के इतिहास से कभी यह जानने का प्रयास किया है कि धर्म-प्रवंतकों की शक्ति का स्रोत कहां है ? क्या वह बुद्धिबल में था ? क्या उनमें से किसी ने भी दर्शन पर कोई सुन्दर पुस्तक लिखी, तर्क की जटिल गुत्थियों में उलझने का प्रयास किया ? एक ने भी नहीं। वे केवल थोड़े से शब्द बोले। ईसा के समान सहानुभूति रखो और तुम ईसा बन जाओगे। बुद्ध के समान सहानुभूति करो और तुम बुद्ध बन जाओगे। यह सहानुभूति की भावना ही वह जीवन है, शक्ति है, बल है, जिसके बिना कितने भी बौद्धिक व्यायाम से तुम ईश्वर को नहीं प्राप्त कर सकते। बुद्धि तो केवल क्रिया-चेतनाहीन अंग है। भावना का संयोग होने पर ही उस अंग में

गति आती है और वे कार्य करने लगते हैं। समस्त संसार में ऐसा ही होता है और इस बात को तुम्हें सदा स्मरण रखना चाहिये......।

वाल्मीकि का प्रथम श्लोक करुणा से उद्भूत

......एक दिन जब महर्षि वाल्मीकि पवित्र गंगा नदी में स्नान करने के लिये जा रहे थे तब उन्होंने क्रौंच के एक जोड़े को आकाश में विहार करते और एक दूसरे का चुम्बन करते देखा। महर्षि उनकी यह क्रीड़ा देख कर प्रसन्न हुए किन्तु दूसरे ही क्षण एक तीर उनके निकट से गुजरा और नर क्रौंच उसके द्वारा मारा गया। वह धरती पर गिर गया तब मादा-क्रौंच विषाद में भरकर चीत्कार करती हुई अपने प्रिय साथी के शव के चारों ओर मंडराती रही। उस दृश्य को देखकर कवि के अन्तःकरण में इतनी वेदना और करुणा उमड़ी कि उन्होंने हत्यारे निषाद को कहा, "तू दुष्ट है, तुझमें दया का रंचमात्र भी नहीं! तेरा हत्यारा हाथ प्रेम को देखकर भी नहीं रुका!"

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्॥

(वाल्मीकि रामायण : बालकाण्ड)

तभी कवि ने अपने मन में सोचा, "यह क्या? यह मैं क्या कह गया? इस ढंग से तो मैं इसके पूर्व कभी नहीं बोला था।" और तब एक देव वाणी सुनायी दी, "डरो मत! यह कविता है जो तुम्हारे मुख से निकल रही है। संसार के कल्याण के लिये राम का चरित्र काव्य में लिखो।" इस प्रकार प्रथम कविता का जन्म हुआ। आदि-कवि वाल्मीकि के मुख से करुणा के उद्रेक में प्रथम श्लोक का उच्चार हुआ। उसके बाद ही उन्होंने राम के चरित्र पर "रामायण" जैसी सुन्दर रचना की।

सही दृष्टिकोण

......तुम जो कुछ कार्य करते हो वह बहिर्मुखी है। वह तुम्हारे अपने कल्याण के लिये है। ऐसा मत समझो कि ईश्वर कहीं खाईं में गिर पड़ा है ताकि हम-तुम कोई अस्पताल आदि बनवाकर उसकी सहायता कर सकें। वह केवल तुम्हें काम करने का अवसर देता है। यदि वह तुम्हें इस विशाल व्यायामशाला में अपने स्नायुओं को व्यायाम कराने का अवसर देता है, तो इसलिये नहीं कि उसे तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है बल्कि इसलिये कि तुम स्वयं अपनी सहायता कर सको! क्या तुम समझते हो कि तुम्हारी सहायता के अभाव में एक चींटी भी मर सकेगी? यह विचार ईश्वर-निन्दा है।

..... हम धन्य हैं कि हमें उसके लिये कार्य करने का, न कि उसकी सहायता करने का सुअवसर मिला। इस "सहायता" शब्द को अपने मस्तिष्क से निकाल फेंको। तुम सहायता नहीं कर सकते। यह विचार केवल नास्तिकता है।

......तुम्हें उसकी पूजा का अवसर दिया गया है। इस श्रद्धायुक्त भाव से सम्पूर्ण विश्व की ओर देखो। तब तुम्हारे अन्दर पूर्ण निष्काम भाव जगेगा। यही तुम्हारा कर्त्तव्य है। यही कार्य के प्रति सही दृष्टिकोण है। यही कर्मयोग का रहस्य है।

निःस्वार्थ कार्यकर्ता ही सबसे सुखी है

भिखारी को कभी सुख नहीं मिलता। उसे दयापूर्वक एक टुकड़ा मिल जाता है किन्तु उसके पीछे उपेक्षा और घृणा का भाव रहता है। कम से कम यह भाव तो रहता ही है कि भिखारी कोई तुच्छ वस्तु है। वह जो कुछ पाता है, उसमें उसे सुख नहीं मिलता।

हम सब भिखारी हैं। हम जो कर्म करते हैं उसका बदला चाहते हैं। हम सब व्यापारी बन गये हैं। हम जीवन का व्यापार करते हैं, गुणों का व्यापार करते हैं, धर्म का व्यापार करते हैं। आह ! हम प्रेम का भी व्यापार करते हैं।

यदि तुम व्यापार ही करना चाहते हो, यदि तुम्हारे सामने लेना-देना ही है, क्रय-विक्रय का ही प्रश्न है तो फिर क्रय-विक्रय के नियमों का पालन करो। समय अच्छा भी होता है और बुरा भी। कभी कीमतें ऊपर चढ़ती हैं और कभी नीचे गिरती हैं। व्यापार में तुम सदैव घाटे के लिये प्रस्तुत रहते हो। यह दर्पण में चेहरा देखने के समान है। उसमें तुम्हारा चेहरा दिखायी देता है। यदि तुम मुंह बनाते हो तो वह भी मुंह बनाता है। तुम हँसते हो तो दर्पण भी हँसने लगता है। क्रय-विक्रय, आदान-प्रदान में इसी प्रकार होता है।

किन्तु हम पकड़ जाते हैं ? कैसे ? जो हमने दिया उसके कारण नहीं, अपितु जो हम अपेक्षा करते हैं उसके कारण। हम अपने स्नेह के बदले दुःख पाते हैं। इसलिये नहीं कि हमने प्रेम किया, बल्कि इसलिए कि हमने बदले में प्रेम चाहा। जब किसी चीज की चाह ही नहीं तो दुःख कैसा ? इच्छा, चाह ही प्रत्येक दुःख की जननी है। इच्छायें सफलता और असफलता के नियमों से बंधी हुई हैं। अतः इच्छाओं के साथ दुःख का आना अनिवार्य है।

......निन्नानवे प्रतिशत साधु वासना और कांचन को त्याग देने के बाद भी यश और लोकेषणा की इच्छा के दास हो जाते हैं। क्या तुम्हें नहीं ज्ञात कि "समस्त वासनाओं से मुक्त श्रेष्ठ मनुष्यों का भी लोकेषणा पीछा नहीं छोड़ती।" कहने में इससे सरल कोई बात नहीं कि "मैं कर्म के लिये कर्म करता हूँ, किन्तु व्यवहार में इस से कठिन कोई अन्य अस्तु नहीं। मैं बीस मील तक अपने सिर पर चलकर उस व्यक्ति के दर्शनों के लिये जाने को तैयार हूँ जो केवल कर्म के लिये कर्म कर सके। कहीं न कहीं कोई कामना विद्यमान रहती ही है। यदि वह धन की कामना नहीं है तो सत्ता

की भूख है। यदि सत्ता की भूख नहीं है; तो यश की लालसा है। इस प्रकार कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में कोई न कोई कामना छिपी ही रहती है।

यह सकाम कर्म ही दुःख का जनक है। जिस कर्म को हम अपने अन्तःकरण का स्वामी बनकर करते हैं, केवल वही हमें निष्काम बनाता है और आनन्द देता है।

निष्काम कर्म ही सर्वोत्तम

……अनेक लोग कहते हैं कि बिना कामना के तुम कर्म ही नहीं कर सकते। वे ऐसी बात कहते हैं क्योंकि उन्होंने उन्मादी कट्टरता के प्रभाव के अतिरिक्त कहीं अन्य निष्काम कर्म देखा ही नहीं।

…निष्काम कर्म ही कर्म का सर्वोत्तम रूप है। कोई कामना नहीं—न धन की, न यश की, न किसी अन्य बात की। जब मनुष्य इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो वह बुद्ध बन जाता है। तब उसमें से संसार को बदल देने वाली शक्ति—महाशक्ति का आविर्भाव होता है। वही व्यक्ति कर्मयोग के सर्वोच्च आदर्श का प्रतीक बन जाता है।

……बुद्ध अकेले धर्म-प्रवर्तक थे जिन्होंने कहा—"मुझे ईश्वर सम्बन्धी तुम्हारे ढेरों सिद्धांतों को जानने की कोई उत्सुकता नहीं। आत्मा सम्बन्धी इन जटिल एवं सूक्ष्म सिद्धांतों की चर्चा करने से लाभ ही क्या है? भले बनो और भलाई करो और इसी मार्ग पर चल कर तुम निर्वाण भी पा जाओगे और महासत्य का साक्षात्कार भी कर सकोगे। उन्होंने जीवन भर व्यक्तिगत कामनाओं से अलिप्त रहकर कार्य किया और उनसे अधिक कौन कार्य कर पाया है? इतिहास में मुझे कोई दूसरा उदाहरण बताओ जो उनसे अधिक ऊंचा उठ सका हो……।

…वे आदर्श कर्मयोगी थे, पूर्ण निष्काम थे। सम्पूर्ण मानव इतिहास में अब तक उनसे बड़ा महापुरुष पैदा नहीं हुआ। उनमें हृदय और मस्तिष्क का महानतम सम्मिलन हुआ, जिसकी कोई तुलना नहीं मिलती; आत्म-शक्ति की अब तक उससे महान् अभिव्यक्ति नहीं हुई…।

सूर्य समुद्र से जल ग्रहण करता है, किन्तु उसे वर्षा रूप में लौटाने के लिये। तुम भी आदान-प्रदान के एक यंत्र मात्र हो। तुम ग्रहण करते हो ताकि तुम दे सको। अतः बदले में कुछ मत मांगो क्योंकि तुम जितना अधिक दोगे उतना ही अधिक पाओगे। तुम जितनी जल्दी इस कमरे की हवा खाली करोगे उतने ही शीघ्र बाहरी हवा इसे भर देगी। किन्तु यदि तुम सब दरवाजों और छिद्रों को बन्द कर दोगे तब जो अन्दर है वह अन्दर रह जावेगी किन्तु जो बाहर है वह कभी अन्दर न आ सकेगी। परिणामस्वरूप अन्दर की हवा स्थिर होकर गन्दी होती जायेगी और विषाक्त बन जायेगी। नदी का प्रवाह सतत समुद्र में गिर रहा है और सतत

भरता जा रहा है। उसका समुद्र में गिरने का द्वार अवरुद्ध मत करो। जिस क्षण तुम यह करोगे, मृत्यु तुम्हें पकड़ लेगी।

● ● ●

निष्काम कार्यकर्त्ता ही सर्वाधिक सफल होता है

प्रकृति और मानवता के लिए निष्काम भाव से किये गये कर्म से ही मनुष्य आसक्ति के बन्धन में नहीं फंसता।

जो मनुष्य स्वाधीन एवं प्रेम-भाव से कर्म करता है वह फल की परवाह नहीं करता। किन्तु गुलाम कोड़ा लगने पर ही कर्म करने का अभ्यस्त होता है और सेवक अपना वेतन चाहता है। ऐसा ही सम्पूर्ण जीवन में होता है। उदाहरणस्वरूप सार्वजनिक जीवन को ही लें। सार्वजनिक वक्ता अपने श्रोताओं से थोड़ी प्रशंसा, फुस-फुसाहट एवं तालियों की अपेक्षा करता है। यदि तुम उसे यह नहीं दे सकते तो तुम उसके उत्साह को ठंडा कर दोगे क्योंकि वह उसका भूखा रहता है। यह दासवत् कार्य करना है। ऐसी परिस्थितियों में बदले में कुछ अपेक्षा रखना ही मनुष्य का स्वभाव बन जाता है।

प्रयेक सफल मनुष्य के जीवनमें अटूट निष्ठा, तीव्र प्रामाणिकता का कोई न कोई केन्द्र अवश्य रहता है और वही उसके जीवन में सफलता का मूल स्रोत होता है। हो सकता है वह पूर्णतया निःस्वार्थ न बन सका हो, किन्तु वह उस ओर बढ़ रहा है। यदि वह पूर्णतया निष्काम बन गया होता तो वह भी बुद्ध अथवा ईसा के समान सफलता के महान् शिखर पर ही पहुँच गया होता। निःस्वार्थता की मात्रा के अनुपात में ही सफलता की मात्रा रहती है।

अस्तु, सच्ची सफलता और सच्चे सुख का महामन्त्र यही है। जो किसी प्रकार का प्रतिफल नहीं चाहता ऐसा पूर्णतया निष्काम मनुष्य ही सबसे अधिक सफल रहता है। यह बड़ा विरोधाभास लगेगा। क्या हम नहीं जानते कि प्रत्येक निःस्वार्थी व्यक्ति को जीवन में धोखा मिलता है, हानि उठानी पड़ती है ? ऊपर से देखने पर यह सत्य है। "ईसा निःस्वार्थ थे, किन्तु उन्हें फांसी पर लटका दिया गया" यह सच है, किन्तु हम जानते हैं कि उनकी निःस्वार्थता ही उस महान् विजय का एकमेव कारण है, जिसके परिणामस्वरूप लाखों-लाखों जीवनों को सच्ची सफलता के मुकुट ने सुशोभित किया।

* * *

इस क्षुद्र 'मैं' से मुक्ति पाओ

यह अहंभाव कि 'मैंने अमुक किया', 'मैं अमुक कर रहा हूं', योग मार्ग का अव-लम्बन करते समय शेष नहीं रहता। पाश्चात्य लोग यह बात नहीं समझ पाते। वे कहते हैं

कि यदि अहंचेतना तनिक न रहे, यदि यह अहंभाव बिल्कुल समाप्त हो जाय तो मनुष्य काम ही कैसे कर सकता है ? किन्तु जिस समय कोई मनुष्य स्वयं को बिल्कुल भुलाकर एकाग्र मन से कार्य करता है, उस समय जो कार्य होता है, वह लाख गुना अच्छा होता है। यह अनुभव हममें से प्रत्येक ने अपने जीवन में प्राप्त किया होगा।

हम भोजन पचाना आदि अनेक कार्य अनजाने में करते हैं, अनेक कार्य चेतना पूर्वक करते हैं और कुछ कार्य में जब हम अपने क्षुद्र 'अहं' को बिलकुल भुला देते हैं तब मानों समाधि अवस्था में पहुंच कर करते हैं।

यदि चित्रकार अपनी 'अहंचेतना' को बिल्कुल खोकर अपनी कलाकृति में ही पूर्णतया खो जाय तो वह कला के अद्वितीय नमूने निर्माण कर सकेगा।......जो योग के द्वारा उस महाप्रभु के साथ एक हो जाता है, वह अपने समस्त कार्यों को एकाग्र मन से करता है और किसी व्यक्तिगत लाभ की अपेक्षा नहीं करता। इस प्रकार कार्य करने से संसार का केवल भला ही होता है, उससे कभी हानि नहीं हो सकती।... ...गीता का सन्देश है कि प्रत्येक कार्य इसी भावना से किया जाना चाहिये।

.........व्यक्तिगत 'अहं' चेतना ही वह सुदृढ़ दीवार है जिसमें हम स्वयं को बन्द कर लेते हैं। हम प्रत्येक वस्तु का नाता अपने से जोड़ लेते हैं। सोचते हैं, मैंने यह किया, मैंने वह किया, मैंने क्या नहीं किया। इस क्षुद्र 'मैं' से छुटकारा पाओ अपने अन्दर घुसी हुई इस पैशाचिकता को मार डालो मैं नहीं, तू ही"—यही कहो, यही अनुभव करो, इसके अनुसार ही जियो। जब तक हम 'अहं' निर्मित इस संकुचित दुनिया का परित्याग नहीं कर देते, तब तक हम स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकते.........।

शक्ति के पुंज वे मौन पुरुष हैं जो केवल जीवित रहते है और स्नेह करते हैं तथा चुपचाप अपने व्यक्तित्व को कर्मक्षेत्र से हटा लेते हैं। वे कभी "मैं" और "मेरा" की रट नहीं लगाते। वे केवल निमित्त बनने में ही स्वयं को कृतार्थ मानते हैं। ऐसे मनुष्यों में से ही ईसा और बुद्ध प्रकट होते हैं।......वे मानव रूप में पूंजीभूत आदर्श मात्र होते हैं, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

.......परमात्मा ने स्वयं को सर्वोत्तम ढंग से छिपा रखा है, अतः उसका कार्य ही सर्वश्रेष्ठ है। इसी प्रकार जो अपने को सर्वोत्तम ढंग से पीछे रख सकता है, वही सबसे अच्छा और अधिक कार्य कर सकता है। अपने आप पर विजय पा लो तो समस्त विश्व तुम्हारा हो जायेगा।

* * *

आदर्श के लिये जियो

.......जो किसी बात की चिन्ता नहीं करता, उसके पास सब कुछ आप ही आप पहुंच जाता है। धन-सम्पति तो चंचल नारी के समान है वह उसकी परवाह नहीं

करती जो उसे बहुत चाहता है। धन अपनी वर्षा उसके निकट आकर कर जाता है, जिसने उसकी परवाह कभी नहीं की, इसी प्रकार लोक-प्रसिद्धि भी इतनी अधिक मात्रा में आती है कि वह सिरदर्द और भार बन जाती है। ये सब सदा स्वामी के पास जाते हैं। उनका दास कभी कुछ नहीं पाता। स्वामी वही है जो उनके बिना भी रह सके, जिसका जीवन संसार की क्षुद्र एवं मूर्खतापूर्ण चीजों पर निर्भर नहीं करता। एक और केवल एक-आदर्श के लिये जियो। उस आदर्श को इतना महान्, इतना शक्तिशाली बनाओ कि उसके अतिरिक्त अन्य कुछ अन्तःकरण में रह ही न जाये। किसी अन्य वस्तु के लिए स्थान नहीं, किसी अन्य बात के लिए समय नही।

* * *

साधनों की महत्ता

अपने जीवन में मैंने सबसे बड़ा पाठ यह सीखा है कि अपने कार्य के साधना की ओर भी उतना ही ध्यान दो जितना उसके साध्य की ओर। सफलता का मूल रहस्य इसी में है कि साधनों को भी उतना ही महत्व दिया जाय जितना साध्य को।

हमारे जीवन की भारी कमी यह है कि हम आदर्श की ओर इतना अधिक खिंच जाते हैं, साध्य का जादू हम पर इतनी बुरी तरह सवार हो जाता है, वह हमें इतना मोह लेता है, वह हमारे मस्तिष्क में इतना बड़ा आकार धारण कर लेता है कि उसकी प्राप्ति के साधन भूत छोटी-छोटी बातें हमारी दृष्टि से बिल्कुल ओझल हो जाती हैं।

जब कभी असफलता मिलती है, तब यदि हम उसका आलोचनात्मक विश्लेषण करें तो निन्नानवे प्रतिशत मामलों में हम एक ही निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि साधनों की ओर हमारा ध्यान न देना ही उसका कारण है। आवश्यकता इस बात की है कि हम साधनों की पुष्टता एवं पूर्णता की ओर उचित ध्यान दें। यदि साधन बिल्कुल सही है तो साध्य प्राप्त होकर रहेगा। हम भूल जाते हैं कि कारण ही परिणाम का जनक होता है। परिणाम अपने आप पैदा नहीं हो जाता। और जब तक कारण सही, अचूक और सशक्त नहीं होंगे तब तक कोई परिणाम नहीं निकलेगा। एक बार यदि आदर्श को चुन लिया और साधनों का निर्णय कर लिया तो फिर यदि कुछ समय के लिये हम आदर्श को लगभग भूल भी जायं तो कोई हर्ज नहीं, क्योंकि हमें निश्चय है कि साधनों की पूर्णता के साथ उसकी सिद्धि अपरिहार्य है। यदि कारण है तो फिर कार्य की क्या चिन्ता ? कार्य-कारण नियम के अनुसार उसे तो होना ही है। हम कारण की चिन्ता करें, परिणाम अपनी चिन्ता स्वयं करेगा। आदर्श की प्राप्ति परिणाम मात्र है। साधन उसका कारण है। अतः साधनों की चिन्ता ही जीवन की सफलता की कुंजी है।

* * *

पूजागृह ही सब कुछ नहीं

एक बात जान लेना चाहिए; महान् ऋषियों का जन्म संसार को कोई विशेष संदेश देने के लिये होता है, न कि अपना नाम चलाने के लिए। किन्तु उनके अनुयायी उनके उपदेशों को तो किनारे रख देते हैं और केवल उनके नाम के लिये झगड़ा करने लगते हैं। यही संसार का अब तक का इतिहास बताता है। मेरा इस बात पर विशेष आग्रह नहीं कि लोग उनका (श्री रामकृष्ण का) नाम स्वीकार करते हैं अथवा नहीं, किन्तु मैं उनके उपदेशों, उनके चरित्र एवं उनके सन्देश को समस्त संसार में फैलाने के लिये अपने प्राणों का बलिदान करने को भी तत्पर हूँ। मुझे सबसे अधिक डर जिस चीज से लगता है, वह है 'पूजागृह'। वह स्वयं में कोई खराब चीज नहीं है, किन्तु कुछ लोगों में प्रवृत्ति रहती है कि वे उसे ही सब कुछ मान लेते हैं और उस पुरातन पन्थी मूर्खता को पुनर्स्थापित कर देते हैं। इस विचार मात्र से ही मैं घबरा जाता हूँ। मैं जानता हूं कि वे पुराने, निर्जीव कर्मकाण्डों में क्यों स्वयं को व्यस्त रखते हैं। उनकी आत्मा कार्य करने के लिये तरसती है, किन्तु जब उनकी शक्ति को कोई सही मार्ग समझ में नहीं आता तो वे घंटी बजाने आदि में ही अपनी शक्ति व्यर्थ कर देते हैं।

मतान्ध मत बनो

भारत के एक भिक्षु का कथन है, "मैं विश्वास कर लूंगा यदि तुम कहो कि मैं मरुस्थल के रेत को पीसकर तेल निकाल सकता हूं, मगरमच्छ के मुंह में हाथ डाल कर उसके दांत को बिना हाथ कटवाये तोड़ कर ला सकता हूं, किन्तु यदि तुम कहो कि मतान्ध को भी बदला जा सकता है तो मैं कदापि विश्वास नहीं कर सकता।"

.....भारत के वैष्णव लोग, जो द्वैतवादी होते हैं, सबसे असहिष्णु सम्प्रदाय में आते हैं। एक अन्य द्वैतवादी सम्प्रदाय-शैवों में, घण्टकर्ण नामक एक भक्त के बारे में एक कथा प्रचलित है। वह कथा इस प्रकार है; घण्टकर्ण शिव का इतना कट्टर भक्त था कि वह किसी दूसरे देवता का नाम भी अपने कानों से नहीं सुनना चाहता था अतः उसने अपने दोनों कानों में दो घंटियां लटका ली थीं, ताकि यदि किसी अन्य देवता का नाम उसके कानों में पड़ने लगे तो वह घंटियों के स्वर में उस नाम की ध्वनि को दबा दें। शिव के प्रति अकाट्य भक्ति होने के कारण शिव उसे यह समझाना चाहते थे कि शिव और विष्णु में कोई भेद नहीं है। अतएव वे उसके समक्ष आधा विष्णु और आधा शिव का शरीर धारण कर प्रकट हुए। उस समय वह भक्त अपने इष्टदेव का धूपार्चन कर रहा था। किन्तु उस घण्टकर्ण की मतान्धता इतने परले सिरे की थी कि ज्यों ही उसने देखा कि धूप की सुगन्ध विष्णु की नाक में प्रवेश कर रही है, उसने अपनी अंगुली उसमें घुसेड़ दी ताकि विष्णु उस मधुर सुगन्ध का आनन्द न ले सकें।

कट्टरवादी मत बनो

कट्टरवादी अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ लोग सुरा के विरुद्ध कट्टर होते हैं, कुछ लोग सिगार के विरुद्ध। कुछ समझते हैं यदि लोग सिगार पीना छोड़ दें तो संसार में स्वर्णयुग आ जायेगा……। भारत में कुछ कट्टरवादी सुधारक सोचते हैं कि यदि कोई स्त्री अपने पति के मरने के पश्चात् दूसरा विवाह कर लेगी तो सब बुराइयों का अन्त हो जायेगा। यह निरी कट्टरवादिता है।

बचपन में मैं भी यही सोचा करता था कि यह कट्टरवादिता कार्य का अनिवार्य अंग है। किन्तु अब बड़ा होने के पश्चात् मुझे लगता है कि यह बात सही नहीं है।

……कोई व्यक्ति है जो सबको ठगता घूमता है; उस पर कभी विश्वास नहीं किया जा सकता। कोई स्त्री उसके निकट सुरक्षित नहीं है। किन्तु हो सकता है यह दुष्ट शराब न पीता हो। यदि ऐसा हो, तो उसे किसी शराब पीने वाले में कोई अच्छाई नहीं दिखाई देगी। फिर ये सब राक्षसी कृत्य जिन्हें वह स्वयं करता है उसकी दृष्टि में कोई बुराई ही नहीं रखते। यह मानव प्रकृतिमूलक स्वार्थपरता एवं एकांगीपन है।

सौ में निन्नानवे कट्टरवादियों का या तो यकृत विकृत होगा अथवा वे अतिमान्द्य रोग के शिकार रहते होंगे या अन्य किसी बीमारी के। शनैः शनैः चिकित्सकों की समझ में भी यह बात आ जायेगी कि यह कट्टरवादिता एक प्रकार की बीमारी है। मैं इसे बहुत देख चुका हूं। ईश्वर ही इससे बचाये।

मेरे अनुभव का यह निचोड़ है और बुद्धिमानी इसी में है कि सब प्रकार के कट्टरपन्थी सुधारों से बचा जाय। संसार धीमी गति से बढ़ रहा है, उसे उसी गति से चलने देना चाहिये। हम जल्दी क्यों कर रहे हैं? अच्छी प्रकार सोओ और अपने शरीर को स्वस्थ रखो। अच्छा भोजन करो और संसार के प्रति सहानुभूति रखो। कट्टरवादी केवल घृणा फैलाते हैं……।

* * *

……जब तुम कट्टरवादियों की संगति से बाहर निकलोगे तभी तुम वास्तविक स्नेह और सहानुभूति का पाठ सीख सकोगे और स्नेह तथा सहानुभूति की मात्रा जैसे-जैसे तुममें बढ़ती जायगी इन बेचारे कट्टरवादियों की निन्दा-भर्त्सना करने की तुम्हारी प्रवृत्ति भी उतनी ही घटती जायगी। उल्टे तुम्हें उनकी भूलों पर दया आयेगी।

* * *

……एक समय एक राजा ने जब यह सुना कि पड़ोसी देश का राजा उसकी राजधानी पर घेरा डालने के लिये आगे बढ़ रहा है, तो उसने शत्रु से देश की रक्षा के उपायों पर विचारार्थ एक जनसभा बुलायी। इंजीनियरों ने परामर्श दिया कि राज-

धानी के चारों ओर मिट्टी की एक ऊँची दीवार खड़ी कर दी जाय और उसके साथ-साथ एक चौड़ी खाई खोद दी जाय। मोचियों ने सुझाव दिया कि वह दीवार चमड़े की बनवाई जाय, क्योंकि "चमड़े से उत्तम कोई वस्तु नहीं है।" लोहार चिल्लाये, "नहीं, ये गलत कहते हैं। दीवार को लोहे से बनवाया जाय।" और तब वकीलों की बारी आयी। उन्होंने तर्क दिया कि राज्य की रक्षा का सर्वोत्तम उपाय एक ही है कि शत्रु को वैधानिक तरीके से यह बतलाया जाय कि वह दूसरे की सम्पत्ति को हड़पने का प्रयास कर एक अनुचित, एक गैरकानूनी अपराध कर रहा है। सबसे अन्त में पुरोहित आगे बढ़े। वे इन सब सुझावों पर उपेक्षा भरी हंसी के उपरान्त बोले, "तुम सब पागलों जैसी बातें कर रहे हो। सर्वप्रथम देवताओं को बलि देकर प्रसन्न करना चाहिये और तभी हम अजेय हो सकते हैं।" इस प्रकार राज्य की रक्षा करने के बजाय वे मूर्ख आपस में वाद-विवाद करते रहे और झगड़ते रहे। इसी बीच शत्रु आगे बढ़ आया, उसने आक्रमण कर राजधानी को ध्वस्त कर दिया। ऐसे होते हैं ये कट्टरवादी !

सब दुर्बलताओं और अन्धविश्वासों को त्यागो

……मेरी शिक्षा का सर्वप्रथम पाठ यह है, ऐसी किसी भी चीज को जो अध्यात्मिक, मानसिक अथवा शारीरिक दुर्बलता की जनक हो, उसे चिमटे से भी न छुओ। धर्म मनुष्य में विद्यमान जन्मजात शक्तियों की अभिव्यक्ति मात्र है। इस छोटे से शरीर के भीतर प्रचण्ड शक्ति का स्रोत छिपा पड़ा है। और वह स्रोत ही स्वयं को फैलाता है। जैसे-जैसे वह शक्ति का स्रोत फैलता जाता है, एक के बाद दूसरी देह अपर्याप्त होने लगती है। यह उन्हें त्यागकर यह जीवन श्रेष्ठतर देह धारण करता जाता है। यही है मानव, धर्म, सभ्यता या प्रगति का सच्चा इतिहास……!

तुम देखोगे कि ज्योतिष आदि रहस्यवादी विद्यायें सामान्यतया दुर्बल मस्तिष्क के लक्षण होती हैं। अतः ज्यों ही वे तुम्हारे मस्तिष्क में महत्व पाने लगें तुरन्त चिकित्सक के पास जाओ, अच्छा भोजन लो और विश्राम करो।

एक प्राचीन कथा है कि एक ज्योतिषी एक राजा के पास आया और कहने लगा "तुम छः महीने में मर जाओगे।" राजा उसकी बात सुनकर इतना डर गया कि उसी क्षण डर के कारण मरने की स्थिति में पहुँच गया। किन्तु उसका मन्त्री बड़ा कुशल व्यक्ति था। उसने राजा से कहा कि ये ज्योतिषी लोग मूर्ख होते हैं। राजा को उस पर विश्वास नहीं हुआ। तब मन्त्री ने राजा को यह दिखाने के लिये कि ज्योतिषी मूर्ख होते हैं एक उपाय सोचा। उसने ज्योतिषी को पुनः राजमहल आने का निमन्त्रण भेजा। वहां उसने ज्योतिषी से पूछा कि क्या उसकी गणना बिल्कुल सही है। ज्योतिषी ने कहा उसमें भूल हो ही नहीं सकती। किन्तु फिर भी मन्त्री को सन्तुष्ट करने के

लिए उसने दोबारा गणना की और कहा कि वह बिल्कुल सही है। राजा का चेहरा भय से पीला पड़ गया। तब मन्त्री ने ज्योतिषी से कहा, "तुम्हारी गणना के अनुसार तुम्हारी अपनी मृत्यु कब आयेगी ?" ज्योतिषी ने उत्तर दिया, "बारह वर्ष बाद। मन्त्री ने तुरन्त अपनी कृपाण खींची और ज्योतिषी का सिर धड़ से पृथक् कर वह राजा से बोला, "देखा आपने उसका झूठ ? वह तो इसी क्षण मर गया।"

कठिनाइयों का निर्भय होकर सामना करो

" ...एक बार जब मैं वाराणसी में था, मैं एक ऐसे स्थान से निकला, जिसके एक ओर विशाल जलाशय था और दूसरी ओर एक ऊँची दीवार। जमीन पर बहुत सारे बन्दर बैठे हुए थे। वाराणसी के बन्दर विशालकाय और शैतान होते हैं। उन पर यह भूत सवार हो गया कि मैं उनकी सड़क से न गुजर पाऊं। उन्होंने घुड़कियां दिखाना, चीखना-चिल्लाना शुरू कर दिया और जैसे ही मैं उनके निकट से निकला वे मेरे पैरों की ओर झपटे। जैसे-जैसे वे मेरे नजदीक आते गये, मैंने दौड़ना शुरू कर दिया, मैं जितनी तेजी से दौड़ता था, उतनी ही तेजी से बन्दर मेरी ओर झपटते थे और मुझे काट खाने को दौड़ने लगे। उनसे बचकर निकलना असम्भव-सा लगने लगा। तभी एक अपरिचित व्यक्ति ने पुकार कर मुझसे कहा, "इन दुष्टों के सामने डटे रहो" मैं मुड़कर बन्दरों के सामने डट गया। तब वे पीछे हट गये और आखिर में भाग गये। यही शिक्षा जीवन भर के लिये गांठ बांध लेनी चाहिये। मुसीबतों का सामना करो, निर्भीकतापूर्वक सामना करो।" उन बन्दरों के समान ये मुसीबतें भी अपने आप भग जायेंगी......जब हम स्वयं उनके सामने से भागना बन्द कर देंगे।

दो प्रकार का साहस

साहस दो प्रकार का होता है। एक प्रकार है तोप के सामने अड़ जाना। दूसरा प्रकार है अध्यात्मिक विश्वासों पर डटे रहना। एक सम्राट् ने भारत पर आक्रमण किया। उसके गुरु ने आदेश दिया था कि वह भारत के कुछ संन्यासियों से अवश्य मिले। बहुत खोज करने के बाद उसे एक सन्त एक शिला पर बैठे हुआ दिखायी पड़ा। सम्राट् ने उससे थोड़ी सी बात की। वह उस संन्यासी के ज्ञान से बहुत अधिक प्रभावित हुआ। उसने संन्यासी से आग्रह किया कि वह उसके साथ उसके देश को चले। संन्यासी ने कहा, "नहीं, मैं यहाँ इस जंगल में पूर्णतया सन्तुष्ट हूँ।" सम्राट् ने कहा, "मैं तुम्हें धन-वैभव, पद-प्रतिष्ठा सब कुछ दूंगा। मैं विश्व का सम्राट् हूँ।" इस पर संन्यासी ने उत्तर दिया, "नहीं; मैं इन चीजों का भूखा नहीं।" "तब सम्राट् ने धमकी दी।" "यदि तुम नहीं चलोगे तो मैं तुम्हें मार डालूंगा।" तब वह संन्यासी उपेक्षापूर्वक मुस्कराया और बोला "ऐ सम्राट् ! यह तुमने सबसे बड़ी मूर्खतापूर्ण बात कही। तुम मुझे नहीं मार सकते। मुझे न सूर्य सुखा सकता है, न अग्नि जला

सकती है, न तलवार काट सकती है, क्योंकि मैं अजन्मा, अमर, नित्य, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् आत्मा हूं।" यह है अध्यात्मिक निर्भीकता। दूसरे प्रकार का साहस सिंह या व्याघ्र का साहस है।............

वीर और उदार बनो

एक बार मैंने एक घटना पढ़ी कि कुछ जहाज दक्षिणी समुद्र द्वीपों (South sea Islands) में तूफान में घिर गये। इस घटना का एक चित्र 'इलस्ट्रेटेड लन्दन न्यूज' नामक समाचारपत्र में छपा भी था। वे सभी जहाज ध्वंस हो गये। केवल एक इंग्लिश जहाज तूफान की टक्कर झेलकर भी बचा रह गया। उस चित्र में दिखाया गया था कि जो लोग समुद्र में डूबने जा रहे थे, वे अपने डूबते जहाज पर खड़े होकर उन साथियों को जिनका जहाज तूफान की चपेट से बच निकला था हर्षध्वनि द्वारा बिदाई दे रहे थे। इतने वीर और उदार बनो। अन्यों को उस गढ़े में मत खींचो जिसमें तुम स्वयं गिर पड़े हो।

प्रसन्नतापूर्वक सहन करो

यदि तुम संसार का भार उठाने के लिये सचमुच तत्पर हो तो प्रसन्नतापूर्वक उठाओ। किन्तु हमारे कानों में तुम्हारी कराहों और अभिशापों की ध्वनि नहीं पड़नी चाहिये। हमें अपनी मुसीबतों से डराओ मत ताकि हम समझने लगें कि हम ही अपनी मुसीबतों के साथ तुमसे ज्यादा सुखी हैं। जो मनुष्य वास्तव में बोझा उठाता है वह संसार को धन्यवाद देता हुआ चुपचाप अपने मार्ग पर चलता है। उसके मुख से निन्दा, भर्त्सना या आलोचना का एक शब्द नहीं निकलता। इसलिये नहीं कि कहीं कोई बुराई नहीं है बल्कि इसलिए क्योंकि उसने स्वेच्छा से, स्वयंप्रेरणा से उस बोझे को अपने कन्धों पर उठाया है। उद्धारक को अपने मार्ग पर आनन्दपूर्वक चलना चाहिये न कि जिसका उद्धार किया गया।

न तो कष्टों को निमन्त्रण दो और न उनसे भागो। जो आता है, उसे झेलो। किसी चीज से प्रभावित न होना ही मुक्ति है। केवल झेलो ही मत, अलिप्त भी रहो।

'सुख मिलनेवाला है'—बहुत अच्छी बात। उसे किसने मना किया? दुःख आने वाला है, उसका भी स्वागत। उस बैल की कथा स्मरण रखो। एक मच्छर को एक बैल के सींग पर बैठे हुए बहुत देर बीत गयी। तब उसके दिल में कुछ चुभा और वह बैल से बोला, "श्रीमान् बैल! मैं बहुत देर से यहाँ बैठा हुआ हूँ, शायद इससे आप रुष्ट हो गये होंगे। मुझे इसका खेद है। अब मैं चला जाता हूँ।" किन्तु बैल ने उत्तर दिया, "नहीं, नहीं, बिलकुल नहीं। तुम अपने पूरे परिवार को ले आओ और मेरे सींग पर रहो। तुम मेरा बिगाड़ ही क्या सकते हो?" यही उत्तर हम आपदाओं को भी क्यों न दें।

भूलें और असफलतायें—वरदानस्वरूप

विचार ही हमारी मुख्य प्रेरणा शक्ति होते हैं। मस्तिष्क को उच्चतम विचारों से भर दो। प्रतिदिन उनका श्रवण करो, प्रतिमाह उनका चिन्तन करो। असफलताओं की चिन्ता मत करो। वे स्वाभाविक हैं। वे जीवन का सौन्दर्य हैं। उनके बिना जीवन में रह ही क्या जायेगा। यदि संघर्ष न हो तो जीवन को पाने का उपयोग ही क्या? जीवन की कविता ही तब कहां रह जायेगी? संघर्षों की, भूलों की चिन्ता मत करो। मैंने कभी गाय को झूठ बोलते नहीं सुना। किन्तु वह केवल गाय है। मनुष्य कभी नहीं। अतः इन असफलताओं की परवाह मत करो। अगर थोड़ा पीछे फिसल ही गये तो क्या हुआ? आदर्श को पकड़ने के लिये सहस्त्र बार आगे बढ़ो और यदि तुम सहस्त्र बार असफल हो जाओ फिर भी एक नया प्रयास अवश्य करो।

संसार में कोई चीज बिलकुल बुरी नहीं है। यदि यहां शैतान है तो ईश्वर भी है अन्यथा वह होता ही नहीं।

हमारी भूलों का भी स्थान है। बढ़े चलो। यदि तुम सोचते हो कि तुमने कोई अनुचित कर्म कर दिया है तो भी पीछे मत देखो। क्या तुम्हारा विश्वास है कि यदि तुमने ये गलतियाँ पहले न की होतीं तो तुम वह बन पाते जो आज हो? तो अपनी गलतियों को धन्यवाद दो। वे अनजाने में वरदान बनकर आयीं। कष्टों को भी धन्यवाद! सुखों को भी धन्यवाद!! तुम्हारा क्या होगा इसकी चिन्ता मत करो। आदर्श पर डटे रहो। आगे बढ़ो। छोटी-छोटी गलतियों और चीजों की ओर पीछे मत निहारो। इस जीवन-संग्राम में भूलों का गर्द-गुब्बार उठेगा ही। जो इतने नाजुक हैं कि इस गर्द-गुब्बार को भी नहीं सहन कर सकते, वे पंक्ति के बाहर निकलकर खड़े हो जायँ।

अपने देवत्व को पहचानो

मैं हिमालय पर यात्रा कर रहा था। लम्बा मार्ग हमारे सामने फैला पड़ा था। हम धनहीन भिक्षुकों को ढोने के लिए कौन मिल पाता? अतः हमें पूरी यात्रा पैदल ही पार करनी थी। हमारे साथ एक वृद्ध पुरुष भी थे। सैकड़ों मीलों तक वह मार्ग ऊपर चढ़ता था, नीचे उतरता था। जब उन वृद्ध भिक्षु ने यह सब देखा तो वे बोले, "ओह, मैं कैसे मार्ग पार कर पाऊँगा? मैं अब अधिक नहीं चल सकता। मेरा दम टूट रहा है।" मैंने उनसे कहा, "अपने पैरों की ओर देखो।" उन्होंने वैसा ही किया। तब मैंने कहा, "यह सड़क जो आपके पैरों के नीचे है, वही है जिसको आपने अब तक पार किया है और यही वह सड़क है जो आप अपने सामने देख रहे हो। यह भी शीघ्र ही तुम्हारे पैरों के नीचे आयेगी।" सर्वोत्तम वस्तुएँ भी तुम्हारे पैरों के नीचे हैं क्योंकि तुम दिव्य नक्षत्र हो। ये सब चीजें तुम्हारे पैरों के नीचे हैं। यदि तुम चाहो

तो नक्षत्रों को भी निगल सकते हो। यह है तुम्हारा वास्तविक स्वरूप ! बलवान् बनो समस्त अन्धविश्वासों से ऊपर उठो और मुक्त हो जाओ।

मौन व अविरत कार्य

बड़ा स्थान पाकर कोई भी बड़ा बन सकता है। रंगमंच के लट्टुओं के प्रकाश में कायर भी वीर बन सकता है। संसार उसे देखेगा। किसका हृदय नहीं उछल पड़ेगा? जब तक अपने से सर्वोत्तम बन पड़ता है, तब तक किसकी नाड़ियों की गति तीव्र नहीं रहती, किन्तु उत्तरोत्तर मुझे उस कीड़े में सच्ची महानता के दर्शन हो रहे हैं जो अपना कर्तव्य-पालन चुपचाप एवं अविराम गति से प्रतिक्षण, प्रतिपल करता रहता है। एक प्राचीन कथा इस प्रकार है कि एक नन्हीं सी गिलहरी बार-बार रेत में लोटती थी और दौड़कर सेतु की ओर जाती थी, वहां अपना शरीर झाड़कर फिर रेत में आ जाती थी। इस प्रकार वह भी भगवान् राम के सेतु-निर्माण यज्ञ में अपना अकिंचन योग दे रही थी। बन्दर उसे देखकर हंस पड़े; क्योंकि वे पूरे पहाड़, पूरे जंगल, रेत के विशाल ढेर सेतु के लिए उठा-उठा कर ला रहे थे। अतः वे उस नन्हीं सी गिलहरी पर हंसे जो रेत में लोट कर अपने शरीर पर लगे रेत को पुल पर झाड़ आती थी। किन्तु राम ने जब उसे देखा तो उन्होंने कहा—"धन्य है यह नन्हीं सी गिलहरी। वह अपनी शक्ति भर अधिक से अधिक कार्य कर रही है। अतः वह भी उतनी ही महान् है जितना तुममें से अन्य कोई।" तब उन्होंने गिलहरी की पीठ पर स्नेहपूर्वक थपकी दी और राम की अंगुलियों के निशान आज भी गिलहरी की पीठ पर देखे जा सकते हैं।

प्रत्येक कर्त्तव्य पवित्र है

प्रत्येक कर्तव्य पावन है। और कर्तव्यनिष्ठा ईश्वरोपासना का सर्वोत्तम प्रकार है। जो कर्तव्य हमारे बिल्कुल समीप है, जो कर्तव्य हमारे हाथों में है उसे अच्छी प्रकार करके हम स्वयं को ही बलवान् करते हैं और इस प्रकार एक-एक पग पर अपनी शक्ति को बढ़ाते हुए हम उस अवस्था में पहुँच जायेंगे जब हमें जीवन तथा समाज में सबसे जटिल और सम्मानित कर्तव्यों के पालन करने का सुअवसर भी प्राप्त होगा।

हम उस स्थान पर पहुँच जायेंगे जिसके हम योग्य हैं। प्रत्येक वस्तु का अपना स्थान निश्चित होता है। यदि किसी में दूसरे से अधिक क्षमता है तो संसार उसका भी पता लगा लेगा। इस विश्व-व्यवस्था में ऐसा ही होता आया है। अतः असन्तुष्ट रहने से कोई लाभ नहीं। कोई धनी व्यक्ति दुष्ट हो सकता है किन्तु उसमें कुछ गुण भी अवश्य होंगे, जिन्होंने उसे धनवान् बनाया। यदि किसी दूसरे व्यक्ति में भी वे ही गुण हों तो वह भी धनी बन जायगा। तब झगड़ा करने और शिकायत करने से लाभ ही क्या? उससे हमें अच्छी बातों की ओर बढ़ने में सहायता नहीं मिलेगी।

प्रत्येक कर्त्तव्य में रस लो; उसे कोसो मत

जो अपने हिस्से में आये हुए छोटे से काम को करते समय भी बुदबुदाता है, वह हरेक काम में बुदबुदायेगा। सदैव बुदबुदाते हुये वह एक दुःखपूर्ण जीवन बितायेगा और प्रत्येक कार्य में असफल होगा। किन्तु वह व्यक्ति जो अपने कर्त्तव्य को पूरी शक्ति के साथ करता रहेगा, पहिये में अपना कंधा लगाये रहेगा, अन्त में वह अवश्य ही फल पायेगा और अधिकाधिक उत्तरदायित्व निभाने का अवसर उसे मिलेगा।

फल के प्रति आसक्ति रखनेवाला कार्यकर्ता ही अपनी पूरी शक्ति के साथ उत्तरदायित्वों को निभाने में हिचकिचाहट दिखाता है। निरासक्त कार्यकर्ता के लिए सब कर्त्तव्य बराबर हैं, अच्छे हैं। प्रत्येक कर्त्तव्य उसके लिए स्वार्थ और विषयलोलुपता का उन्मूलन करने के लिए एक सुन्दर अस्त्र बनकर आता है, उसके द्वारा वह आत्मा की मुक्ति प्राप्त करता है।

असन्तोषी को सब कर्त्तव्य अरुचिकर लगते हैं। वह कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकेगा और उसका सम्पूर्ण जीवन असफलता की कहानी बनकर रहेगा। हम कर्म करते चलें, जो कार्य हमारे हिस्से में आये उसे करें और कार्य के चक्र में अपना कन्धा लगाये रहें, तब हमें उस ज्योतिर्मय के दर्शन होना निश्चित है।

कोई कार्य तुच्छ नहीं। यदि मनपसन्द कार्य मिल जाये तो मूर्ख भी उसे पूरा कर सकता है किन्तु बुद्धिमान् पुरुष वही है जो प्रत्येक कार्य को अपने लिये रुचिकर बना ले।

इस संसार में प्रत्येक वस्तु वटवृक्ष के बीज के समान है, जो यद्यपि देखने में तो सरसों के दाने के समान लघु दीख पड़ता है तथापि अपने अन्दर विशाल वटवृक्ष को छिपाये हुए है। सचमुच महान् वही है जो यह बात परख कर प्रत्येक कार्य को महान् बनाने में सफलता प्राप्त कर दिखाये।

आत्मनिरीक्षण करो, अन्यों को दोष मत दो

हमें यह जान लेना चाहिये कि हम तब तक कुछ नहीं बन सकते जब तक हम स्वयं ही उसके लिए तैयार न हों। जब तक शरीर की तैयारी न हो, कोई रोग पास नहीं फटक सकता। रोग का आगमन केवल कीटाणुओं पर ही नहीं निर्भर करता अपितु शरीर में उनके लिये विद्यमान अनुकूलता पर भी निर्भर करता है। हम जिसके योग्य हैं, वही हमें मिलता है। हम अपना घमण्ड छोड़ें और इस बात को समझ लें कि अकारण दुःख कभी नहीं आता। कोई आघात बिना उसका पात्र बने नहीं लगता। कोई बुराई नहीं थी जिसके लिये मैंने अपने हाथों रास्ता तैयार न किया हो, यह हमें समझ लेना चाहिए।

अपना विश्लेषण करो तो तुम्हें पता लग जायेगा कि तुम्हें प्रत्येक आघात मिला

क्योंकि तुमने स्वयं को उसके लिये तैयार किया। आधा कार्य तुमने किया, शेष आधा बाह्य जगत् ने पूरा कर दिया। इस तरह तुम्हें आघात मिला। यह हानि होने पर हम विनम्र हो सकेंगे। साथ ही, इस आत्मविश्लेषण में से आशा का स्वर भी सुनाई देगा। वह स्वर है : बाह्य जगत् पर भले ही मेरा कोई वश न चलता हो किन्तु अपने आन्तरिक जगत् पर, जो मेरे अत्यन्त निकट है, मेरे अन्दर ही है, तो मेरा नियन्त्रण चल सकता है। यदि किसी असफलता के लिए इन दोनों का संयोग होना आवश्यक है, यदि मुझे आघात लगाने के लिए दोनों का मिलन होना अनिवार्य है तो मैं अपने अधिकार के जगत् को इस कार्य में योग नहीं देने दूंगा। तब भला आघात क्यों कर लग सकेगा? यदि मैं सच्चा आत्मनियन्त्रण पा लूं तो मुझे आघात कभी नहीं लगेगा।"

अतएव, अपनी भूलों के लिए किसी को दोष मत दो, अपने पैरों पर खड़े होओ, और सम्पूर्ण दायित्व अपने ऊपर लो। कहो, "यह विपद् जिसे मैं झेल रहा हूं मेरी अपनी करनी का फल है। और इसी से सिद्ध है कि इसे मैं स्वयं ही दूर करूंगा। जिसकी रचना मैंने की, उसका विनाश भी मैं ही करूंगा। किन्तु जिसे किसी अन्य ने बनाया है, उसका विनाश मैं कभी नहीं कर पाऊँगा।" अत: उत्तिष्ठत! निर्भीक बनो, समर्थ बनो। सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने कंधों पर संभालो और समझ लो कि तुम ही अपने भाग्य विधाता हो। जितनी शक्ति और सहायता तुम्हें चाहिए वह सब तुम्हारे अन्दर ही है। अत: अपना भविष्य स्वयं बनाओ। "मृत अतीत को दफना दो"। अनन्त भविष्य तुम्हारे सामने है। और सदैव स्मरण रखो कि प्रत्येक शब्द, विचार और कृति तुम्हारे भाग्य का निर्माण करता है। जिस प्रकार बुरे कर्म और विचार व्याघ्र के समान तुम्हारे ऊपर झपटने को तैयार हैं, उसी प्रकार एक आशा की किरण भी है कि अच्छे कर्म और विचार सहस्रों देवदूतों की शक्ति से तुम्हारी सदा-सर्वदा रक्षा करने को भी तत्पर हैं।

वह स्वयं अपने भाग्य-निर्माता

बिना अधिकारी बने कोई कुछ नहीं पा सकता। यही सनातन नियम है। कभी-कभी हमें ऐसा लगता होगा कि शायद यह सही नहीं है, किन्तु अन्ततोगत्वा हमें इसका विश्वास होकर रहेगा। कोई व्यक्ति जीवन भर धनी बनने के लिये छटपटाता रहे, उसके लिये सहस्रों लोगों को ठगे किन्तु अन्त में एक दिन वह देखता है कि शायद वह धनवान बनने के योग्य ही नहीं था और तब अपना सम्पूर्ण जीवन उसे भार या विपदा दिखायी देता है। हम भले ही अपने इन्द्रिय सुख के लिए अनेकों साधनों को जमा करते रहें किन्तु उनमें से केवल वही हमारा है जिसे हमने अर्जित किया है। एक मूर्ख संसार की समस्त किताबें खरीद डाले और वे सब उसके पुस्तकालय में

सजी रहें किन्तु वह उनमें से केवल उतनी ही पढ़ पायेगा जितने का वह अधिकारी है और यह अधिकार कर्म द्वारा उत्पन्न होता है ?

हमारा कर्म निर्णय करता है कि हमारा कितना अधिकार है और हम कितना आत्मसात् कर सकते हैं। स्वनिर्माण की शक्ति हमारे पास है। हम आज जो कुछ हैं यदि यह हमारे पिछले कर्मों का परिणाम है तो इससे निश्चित तर्क निकलता है कि जो कुछ हम भविष्य में बनना चाहते हैं, वह हमारे वर्तमान कर्मों का परिणाम होगा। अतः हमें विचार करना चाहिये कि हम कर्म कैसे करें।

सहायता भीतर से मिलेगी

हम रेशम के कीड़ों के तुल्य हैं। हम अपनी देह में से ही धागा कातते हैं और अपने चारों ओर एक कोया बुन लेते हैं और फिर कुछ समय पश्चात् उसके अन्दर बन्दी हो जाते हैं। किन्तु यह सदा नहीं रहेगा। उस कोये के भीतर रहकर हम आध्यात्मिक साक्षात्कार कर लेंगे और तितली के समान मुक्त होकर बाहर निकल आयेंगे। कर्म का यह ताना-बाना सबने अपने चारों ओर पूर लिया है। अज्ञानवश हम समझते हैं कि हम बन्धन में पड़े हैं और तब सहायता के लिये चीखते पुकारते हैं। किन्तु सहायता बाहर से नहीं आती। वह हमारे अन्दर से ही आयेगी। चाहे तुम विश्व के समस्त देवताओं का नाम लेकर चिल्लाओ, पुकारो। मैं भी वर्षों तक चिल्लाया। अन्त में मैंने पाया कि मुझे सहायता मिली, किन्तु वह मेरे अन्दर से आयी। जो कुछ मैंने भूलें की थीं, उनका मुझे निराकरण करना पड़ा। यही एकमेव मार्ग है। मुझे उस जाल को काटना पड़ा, जो मैंने अपने चारों ओर बुन लिया था और उसे काटने की शक्ति अपने अन्दर ही विद्यमान है। मैं यह विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि मेरे विगत जीवन की एक भी अच्छी या बुरी कामना व्यर्थ नहीं गयी और आज मैं जो कुछ भी हूं अपने सम्पूर्ण अतीत (भले या बुरे) का ही परिणाम हूं। मैंने जीवन में अनेक भूलें की हैं, किन्तु ध्यान दो, मुझे निश्चय है कि उनमें से प्रत्येक भूल को किये बिना मैं वह नहीं बन पाता जो आज हूं और इसीलिये मुझे पूर्ण सन्तोष है कि मैंने वे भूलें कीं। मेरे कहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि तुम घर वापस जाकर जान-बूझकर गलतियां करना शुरू कर दो। मेरे कथन का यह गलत अर्थ मत लगाओ। किन्तु जो भूलें तुमसे हो चुकी हैं उनके लिये खिन्न मत होओ। स्मरण रखो कि अन्त में सब कुछ ठीक हो जायगा। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य हो ही नहीं सकता; क्योंकि हमारी प्रकृति ही शुद्ध-बुद्ध है। और वह प्रकृति नष्ट नहीं की जा सकती। हमारी मूल प्रकृति सदा वही बनी रहती है।

सद्चरित्र का निर्माण

मनुष्य मानो एक केन्द्र है जो अपनी ओर चारों ओर से ब्रह्माण्ड की समस्त

शक्तियों को आकर्षित कर रहा है। इस केन्द्र में वे समस्त शक्तियां समाहित होकर पुनरपि एक शक्ति-प्रवाह के रूप में वहाँ से वापस लौट रही हैं।

पाप-पुण्य, दुःख-सुख—सब उसकी ओर दौड़ रहे हैं और उसे चिपट रहे हैं। उन्हीं में से वह प्रवृत्तियों की उस प्रबल धारा का निर्माण करता है जिसे चरित्र कहते हैं तथा उसे प्रकाशित करता है। जिस प्रकार उसमें सब कुछ आकर्षित करने की शक्ति विद्यमान है, उसी प्रकार उसे विकीर्ण करने की शक्ति भी विद्यमान है।

यदि कोई मनुष्य लगातार अशुभ बातें सुने, अशुभ चिन्तन करे, अशुभ कर्म करे तो उसका अन्तःकरण बुरे संस्कारों से मलिन हो जायगा। वे उसके अनजाने में ही उसके समस्त विचारों और कार्यों को प्रभावित करेंगे। वास्तव में, ये कुसंस्कार सदैव कार्यशील बने रहते हैं और उनका परिणाम होता है केवल अनिष्ट कर्म और मनुष्य बुरा मनुष्य बन जाता है। वह इसे रोक नहीं सकता। ये समस्त संस्कार एकत्रित होकर उसके अन्दर बुरे कर्मों के लिए प्रबल इच्छा उत्पन्न कर देंगे। वह इन संस्कारों के हाथ की कठपुतली बन जायेगा और वे उसे निरन्तर दुष्कर्म की ओर ढकेलेंगे।

इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य शुभ चिन्तन करता है, शुभ कर्म करता है, तो उनके संस्कारों का संचय शुभ होगा। ये शुभ संस्कार ठीक उसी प्रकार उसे उसकी इच्छा के विपरीत भी सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त करेंगे। जब मनुष्य अत्यधिक शुभ-कर्म एवं शुभ-चिन्तन कर चुका होता है तो उसमें अपनी इच्छा के विपरीत भी शुभ कर्म करने की अप्रतिहत प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यदि वह पाप कर्म करना चाहे तो भी उसका मन उसकी प्रवृत्तियों से बंधा होने के कारण, उसे वह पापकर्म करने की अनुमति नहीं देगा। उसकी प्रवृत्तियां उसे वापस लौटा लायेंगी; क्योंकि वह पूर्णतया शुभ प्रवृत्तियों के वशीभूत है। जब ऐसी स्थिति पहुँच जाय, तभी जानना चाहिए कि मनुष्य में सद्-चरित्र दृढ़-मूल हो गया है।

जब कोई मनुष्य पिआनो पर कोई धुन बजाना सीखता है तो प्रारम्भ में वह प्रत्येक पर्दे पर अपनी अंगुलियां समझ-समझ कर रखता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक कि अंगुलियों का चलना उसका स्वभाव न बन जाय। बाद में वह उस धुन को प्रत्येक पर्दे की ओर ध्यान दिये बिना ही सरलतापूर्वक बजा लेता है। इसी प्रकार हम अपने बारे में भी देख सकते हैं कि हमारी वर्तमान प्रवृत्तियाँ हमारे पिछले विचारपूर्वक किये गये कर्मों का परिणाम हैं।

आत्म-संयम की शक्तियाँ

जब हम अपनी भावनाओं को खुला छोड़ देते हैं तो हम अपनी बहुत सी शक्ति नष्ट करते हैं। हमारे स्नायु क्षीण होते हैं, मन चंचल रहता है और बहुत थोड़ा कार्य हो पाता है। जो शक्ति कार्य करने में व्यय होनी चाहिये थी, वह निरर्थक ही भावना

के रूप में नष्ट हो गयी जिसका कोई उपयोग नहीं हुआ। जिस समय मन पूर्णतया स्थिर एवं एकाग्र होता है तभी उसकी पूरी शक्ति शुभ कार्य करने में व्यय होती है। और यदि तुम संसार के महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ो तो तुम्हें पता चलेगा कि वे अद्भुत स्थिर व्यक्ति थे। कोई भी वस्तु मानों उनके सन्तुलन को भंग नहीं कर सकती थी। यही कारण है कि जो व्यक्ति क्रुद्ध हो जाता है वह कभी अधिक कार्य नहीं कर पाता और जिस व्यक्ति को कोई क्रुद्ध नहीं बना सकता वह बहुत अधिक कार्य कर जाता है। जो मनुष्य क्रोध, ईर्ष्या या अन्य किसी विकार का दास बन जाता है, वह कार्य नहीं कर सकता, वह अपने स्वयं के खण्ड खण्ड कर डालता है और कोई ठोस कार्य नहीं करता। शान्त, क्षमाशील, सन्तुलित एवं स्थिर मन ही सबसे अधिक कार्य कर पाता है।

विकारों की प्रत्येक लहर पर विजय से तुम्हारे सामर्थ्य में वृद्धि होती है। अतएव क्रोध के बदले क्रोध न करना भी अन्य नैतिक कार्यों के समान ही उपादेय नीति है। ईसा ने कहा था, "बुराई का प्रतिरोध मत करो।" हम इस सन्देश को तब तक नहीं समझ सकेंगे जब तक हम यह न खोज लें कि यह केवल नैतिक दष्टि से ही उचित नहीं, अपितु सर्वाधिक फलदायी नीति भी है क्योंकि क्रोध को अपनाने वाले की अपनी शक्ति का ही ह्रास होता है। तुम्हें अपने मन को क्रोध और घृणा आदि की विकार तरंगों के वशीभूत नहीं होने देना चाहिये।

एक चार घोड़ों की बग्घी पहाड़ी के ढाल पर अनियन्त्रित हो ढुलक जाय अथवा सारथि उसके घोड़ों को नियन्त्रण में रक्खे। शक्ति की किसमें अधिक अभिव्यक्ति है— घोड़ों को खुली छूट देने में या उन पर नियन्त्रण रखने में ? एक बम का गोला हवा में दूर तक उठता जाता है और अन्त में धरती पर गिर पड़ता है। दूसरा गोला मार्ग में दीवार से टकरा जाने के कारण वहीं रह गया किन्तु उन दोनों की टक्कर से अत्यधिक ताप शक्ति पैदा होती है। स्वार्थ हेतु को लेकर जो शक्ति तुमसे बाहर जाती है, उसमें तुम्हारे पास वापस कुछ नहीं लौटता किन्तु यदि उसे संयमित कर लिया गया होता तो काफी वर्धित होकर लौटती।

इस आत्म-नियन्त्रण के द्वारा वह प्रबल इच्छा-शक्ति व चारित्र्य पैदा होते हैं जिनमें से ईसा या बुद्ध पैदा होते हैं।

यदि क्रोध की एक बड़ी लहर मन में उठे तो उस पर हम कैसे नियन्त्रण करें ? ठीक उसकी विरोधी लहर उत्पन्न कर। अर्थात् प्रेम भाव को उद्दीपित करो। कभी कोई स्त्री अपने पति से बहुत नाराज हो जाती है, और यदि उसी स्थिति में नन्हा शिशु वहाँ आ जाय तो माँ उस बच्चे को प्रेम से चूम लेती है, पुरानी लहर मर जाती है और बच्चे के लिए प्रेम की एक नयी लहर जन्म ले लेती है। वह दूसरी लहर को

दबा देती है प्रेम क्रोध का प्रतिपक्षी है। इसी प्रकार जब मन में चोरी का भाव उठे तब चोरी न करने के भाव का चिन्तन करना चाहिये। जब उपहार पाने की कामना मन में जगे तब उसे उसके विरोधी विचार से दबा दो।

आदर्श पुरुष वह है जो अधिकतम नीरवता और एकान्त में भी तीव्र क्रियाशीलता प्रकट करता है और जो तीव्र क्रियाशीलता के बीच भी मरुस्थल की निस्तब्धता और एकान्तता का अनुभव करता है। उसने संयम का रहस्य सीख लिया है और अपने ऊपर नियन्त्रण पा लिया है। किसी बड़े नगर की कोलाहलपूर्ण सड़कों पर घूमते हुए भी उसका मन इतना शान्त रहता है जैसे मानों वह ऐसी कन्दरा में बैठा हो जहां ध्वनि भी उसके निकट नहीं पहुंच सकती, तब भी इस पूरे समय में अति क्रियाशील रहता है। यही कर्मयोग का आदर्श है और यदि तुम यह आदर्श प्राप्त कर सको तो समझ लो कि तुमने कर्म का रहस्य जान लिया।

सच्चे विचारों की शक्ति

"...गौतम बुद्ध के जीवन में हम उन्हें सदैव यह कहते हुए पाते हैं कि वे पच्चीसवें बुद्ध हैं। उनसे पूर्वकालीन चौबीस बुद्ध इतिहास को अज्ञात हैं, यद्यपि इतिहास को ज्ञात बुद्ध ने अपना जीवन उन चौबीस बुद्धों द्वारा निर्मित नींव पर ही खड़ा किया होगा।

महानतम पुरुष शान्त, मौन और अज्ञात रहते हैं। वे लोग ही वस्तुतः विचारों की शक्ति को जानते हैं। उन्हें विश्वास रहता है कि यदि वे किसी गुफा में प्रवेश कर द्वार बन्द कर लें और केवल पांच सच्चे विचारों का चिन्तन कर अपनी देह को त्याग दें, तो उनके ये पांचों विचार अनन्त काल तक जीवित रहेंगे। सच, ऐसे विचार पर्वतों को भेदकर, समुद्रों को लांघकर संसार भर में व्याप्त हो जायेंगे। वे मानव-हृदयों और मस्तिष्कों में गहरे प्रवेश कर जायेंगे। सहस्रों नर-नारियों को कर्म-चेतना से भर देंगे। और वे उन विचारों को मानव-जीवन के क्रिया-कलापों में व्यावहारिक अभिव्यक्ति करके दिखायेंगे।

तुम स्वयं ऋषि बनो

तुम्हें केवल पुराने ऋषियों के उपदेश को सीखने तक ही सीमित नहीं रहना चाहिये। वे ऋषि जा चुके, और उनके साथ ही उनके मत भी। तुम्हें स्वयं ऋषि बनना होगा। तुम भी उसी प्रकार मनुष्य हो, जिस प्रकार अब तक उत्पन्न हुए समस्त महापुरुष—यहां तक कि अवतार भी—मनुष्य थे। केवल ग्रन्थ-पाठ से क्या बनेगा? केवल ध्यान-धारणा भी क्या कर पायेगी? मन्त्र-तन्त्र भी कल्याण नहीं कर सकेंगे। तुम्हें अपने पैरों पर ही खड़े होना होगा।

× × ×

सच्चा मानव

तुम्हें इस नयी प्रणाली को—मनुष्य-निर्माण की प्रणाली को—अपनाना ही होगा। सच्चा मनुष्य वह है जो मूर्तिमन्त पौरुष के समान सामर्थ्यशाली हो किन्तु साथ ही नारी के जैसे कोमल अन्तःकरण से भी युक्त हो। तुममें अपने चारों ओर रहनेवाले लक्षावधि प्राणियों के प्रति सहानुभूति तो हो किन्तु उसके साथ ही तुम दृढ़ एवं कर्त्तव्य-कठोर भी बनो। तुममें आज्ञाकारिता भी अवश्य रहे। भले ही ये बातें तुम्हें परस्पर विरोधी लगें—किन्तु ऊपर से परस्पर विरोधी दीखने वाले इन गुणों को अपनाना ही होगा। यदि तुम्हारा वरिष्ठ तुम्हें नदी में कूदकर एक मगर को पकड़ने का आदेश दे तो भी तुम पहले उसकी इस आज्ञा का पालन करो और बाद में तर्क-वितर्क करो। यदि कोई आज्ञा ग़लत हो, तब भी पहले उसका पालन करना चाहिये, और बाद में उसके औचित्य का खण्डन।

सम्प्रदायों का मुख्य अभिशाप यह है ''''यदि किसी को थोड़ा भी भिन्न मत हुआ तो वह तुरन्त एक नया सम्प्रदाय प्रारम्भ कर देता है, उसमें प्रतीक्षा के लिये तनिक धैर्य नहीं होता। अतः तुम्हें अपने संघ के लिये अटूट श्रद्धा का भाव रखना चाहिये। यहाँ आज्ञा-भंग के लिये तनिक भी स्थान नहीं है।

''''''हमारे शिविर में एक भी द्रोही न रहे। तुम पवन के समान उन्मुक्त रहो, किन्तु साथ ही इस पौधे एवं श्वान के समान आज्ञाकारी भी बनो।

* * *

समय की मांग—संन्यासी

हममें से कुछ लोग इस प्रपंच से अलग रहें और केवल परमात्मा के लिये जीवित रहें। संसार के लिये धर्म की रक्षा करें। यदि तुम वैराग्य धारण करो तो दृढ़तापूर्वक डटे रहो। यदि इस युद्ध में सैकड़ों गिर जायँ तो भी पताका को थामे रहो और बढ़ते जाओ। चिन्ता नहीं कौन गिरता है, सत्य संकल्प के पीछे भगवान् स्वयं विद्यमान हैं ही। जो गिरे वह पताका को दूसरे हाथों में सौंप दे और तब वह कभी नहीं गिर सकेगी।

जीवन की क्षुद्र मर्यादाओं में बंधे वे बेचारे गृहस्थ कर ही कितना सकते हैं? यह संन्यासियों का कार्य है, शिव के गणों का कार्य है कि आकाश को "हर! हर! शम्भो' के निनाद से गुंजायमान कर दें।

मेरी समस्त भावी आशा उन युवकों में केन्द्रित हैं—जो चरित्रवान् हों, बुद्धिमान हों, लोकसेवा के हेतु सर्वस्व त्यागी और आज्ञापालक हों, जो मेरे विचारों को क्रियान्वित करने के लिये और इस प्रकार अपने तथा देश के व्यापक कल्याण के हेतु अपने

प्राणों का उत्सर्ग कर सकें। अन्यथा, साधारण श्रेणी के लड़के झुंड के झुंड आते हैं और आते रहेंगे। उनके मुख निस्तेज हैं, उनके हृदय कर्मचेतना से शून्य हैं। उनके शरीर दुर्बल हैं और कठोर परिश्रम करने के योग्य नहीं हैं, उनमें साहस का अभाव है। ऐसे लोगों के द्वारा क्या कार्य हो सकेगा? यदि मुझे नचिकेता की श्रद्धा से सम्पन्न केवल दस या बारह युवक मिल जायें तो मैं इस देश के विचारों और कार्यों को एक नयी दिशा में मोड़ सकता हूं।

जिनमें मुझे कुछ अधिक क्षमतायें दीख पड़ती हैं उनमें से कुछ विवाह के बन्धन में बन्ध गये हैं। कुछ ने स्वयं को नाम, प्रतिष्ठा या धन कमाने के लिये बेच डाला है, और कुछ शरीर से दुर्बल हैं। शेष, जिनकी संख्या अधिक है, किसी उच्च भाव को ग्रहण करने में ही समर्थ नहीं हैं।

निस्सन्देह ...क्योंकि ईश्वरीय इच्छा से इन्हीं लड़कों में से कुछ समय बाद अध्यात्मिकता और कर्म-शक्ति के महान् पुंज उदित होंगे जो भविष्य में मेरे विचारों को क्रियान्वित करेंगे।

शिक्षित युवकों को संगठित करो

शिक्षित युवकों में कार्य करो, उन्हें एकत्र लाओ और संगठित करो। महान् त्याग के द्वारा ही महान् कार्य सम्भव हैं....करो, मेरी योजना, मेरे विचारों को क्रियान्वित करो।......मेरे वीर, श्रेष्ठ, उदात्त बन्धुओ—अपने कन्धों को कार्यचक्र में लगा दो, कार्यचक्र पर जुट जाओ। मत ठहरो, पीछे मत देखो—न नाम के लिये, न यश के लिये और न ऐसी ही किसी अन्य निरर्थक वस्तु के लिये। व्यक्तिगत अहम्मन्यता को एक ओर फेंक दो और कार्य करो। स्मरण रखो, "घास के अनेक तिनकों को जोड़कर जो रस्सी बनती है उससे एक उन्मत्त हाथी को भी बांधा जा सकता है।"

श्री रामकृष्ण से मेरी प्रार्थना

अब मैं सार्वभौमिक समन्वय के संदेश के प्रदाता जगद्गुरु श्री रामकृष्ण से प्रार्थना करता हूं कि वे स्वयं को तुम्हारे अन्त:करणों में प्रकाशित करें ताकि तुम समस्त ऐहिक कामनाओं से ऊपर उठकर साहसपूर्ण हृदय से अन्यों को भी माया-मोह के भीषण भंवर से बाहर निकाल सको!

तुम सदैव शौर्य से सम्पन्न रहो। केवल वीर ही मुक्ति को सरलतापूर्वक पा सकता है, न कि कायर। कमर कसो ओ वीरो! तुम्हारे सामने शत्रु खड़ा है—यह माया-मोह की क्रूर सेना। इसमें तनिक संदेह नहीं कि समस्त महान् सफलताओं के मार्ग नाना बाधाओं से भरे हैं किन्तु तब भी तुम अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अधिकतम प्रयत्न करते रहो।

ओ वीर आत्माओ! आगे बढ़ो, आगे बढ़ो! उन्हें मुक्त कराने के लिये जो जंजीरों से जकड़े हुए हैं, उनका बोझा हल्का करने के लिये जो दुःख के भार से लदे हैं,

उन हृदयों को आलोकित करने के लिये जो अज्ञान की गहन तमिस्रा में डूबे हुए हैं। सुनो ! वेदान्त डंके की चोट घोषणा कर रहा है "अभीः" (निर्भय बनो) ईश्वर करे यह पवित्र स्वर धरती के समस्त प्राणियों के हृदयों की ग्रन्थियाँ खोलने में समर्थ हो।

ओ हिन्दुओ ! मोहनिद्रा को त्यागो

हम प्रत्येक आत्मा को आह्वान करें, "उत्तिष्ठत, जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत,—उठो, जागो और जब तक लक्ष्य प्राप्त न कर लो कहीं मत ठहरो।" उठो ! जागो ! दौर्बल्य के मोहजाल से निकलो, कोई वास्तव में दुर्बल नहीं है। आत्मा अनन्त, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापी है। खड़े हो, स्वयं को झकझोरो, अपने अन्दर व्याप्त ईश्वर का आह्वान करो। उसकी सत्ता को अस्वीकार मत करो। हमारी जाति पर बहुत अधिक निष्क्रियता, बहुत अधिक दुर्बलता और बहुत अधिक मोहजाल छाया रहा है और अब भी है।

ऐ हिन्दुओ ! इस मोहजाल को उतार फेंको। इससे मुक्त होने का मार्ग वही है जो तुम्हारे पवित्र शास्त्रों में वर्णित है।

अपने सच्चे रूप को स्वयं समझो और अन्य प्रत्येक को सिखाओ। सुप्त आत्मा को जगाओ और फिर देखो वह कैसे जगती है। एक बार जहां यह सुप्त आत्मा अपने सच्चे स्वरूप को पहचान कर कार्यक्षेत्र में उतरी कि तुम्हारे पास प्रभुता, कीर्ति, शुचिता, ऋजुता और अन्य जो कुछ भी श्रेष्ठ गुण हैं सब अपने आप चले आयेंगे।

पुनर्युवा उज्ज्वल भारत

मैं भविष्य को नहीं देखता, न ही उसे जानने की चिन्ता करता हूं। किन्तु एक दृश्य मैं अपने मनश्चक्षुओं से स्पष्ट देख रहा हूं, "यह प्राचीन मातृभूमि एक बार पुनः जाग गयी है और अपने सिंहासन पर आसीन है—पहले से कहीं अधिक गौरव एवं वैभव से प्रदीप्त। शान्ति और मंगलमय स्वर में उसकी पुनर्प्रतिष्ठा की घोषणा समस्त विश्व में करो।"

—:o:—